Catalog

01_2.pdf ····· 1
1_5.pdf ····· 2
2_5.pdf ····· 3
3_5.pdf ····· 4
4_5.pdf ····· 5
5_5.pdf ····· 6
6_5.pdf ····· 7
7_5.pdf ····· 8
8_5.pdf ····· 9
9_5.pdf ····· 10
10_5.pdf ····· 11
11_5.pdf ····· 12
12_5.pdf ····· 13
13_5.pdf ····· 14
14_5.pdf ····· 15
15_3.pdf ····· 16
16_5.pdf ····· 17
17_5.pdf ····· 18
18_5.pdf ····· 19
19_5.pdf ····· 20
20_4.pdf ····· 21
21_5.pdf ····· 22
22_5.pdf ····· 23
23_5.pdf ····· 24
24_5.pdf ····· 25
25_5.pdf ····· 26
27_5.pdf ····· 27
28_5.pdf ····· 28
29_4.pdf ····· 29
30_5.pdf ····· 30
31_5.pdf ····· 31
32_5.pdf ····· 32
33_5.pdf ····· 33
34_5.pdf ····· 34
35_5.pdf ····· 35
36_5.pdf ····· 36
37_5.pdf ····· 37
38_5.pdf ····· 38
39_5.pdf ····· 39
40_5.pdf ····· 40
41_5.pdf ····· 41
42_5.pdf ····· 42
43_5.pdf ····· 43
44_5.pdf ····· 44
45_5.pdf ····· 45
46_5.pdf ····· 46
47_5.pdf ····· 47
48_5.pdf ····· 48

49_5.pdf ····· 48
50_5.pdf ····· 50
51_5.pdf ····· 51
52_5.pdf ····· 52
53_4.pdf ····· 53
54_5.pdf ····· 54
55_5.pdf ····· 55
56_5.pdf ····· 56
57_4.pdf ····· 57
58_5.pdf ····· 58
59_5.pdf ····· 59
60_5.pdf ····· 60
61_5.pdf ····· 61
62_5.pdf ····· 62
63_5.pdf ····· 63
64_5.pdf ····· 64
65_5.pdf ····· 65
66_4.pdf ····· 66
67_5.pdf ····· 67
68_5.pdf ····· 68
69_5.pdf ····· 69
70_5.pdf ····· 70
71_5.pdf ····· 71
72_5.pdf ····· 72
73_5.pdf ····· 73
74_5.pdf ····· 74
75_5.pdf ····· 75

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी

ISSN 0974-6129
वर्ष 3 अंक 1
अप्रैल–जून 2010
तीस रुपये

परिमल

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी
वर्ष–3, अंक–1, अप्रैल–जून, 2010

परमिता

ISSN- 0974-6129

प्रधान सम्पादक :
डॉ. शशांक शुक्ला

सम्पादक :
डॉ. अवधेश दीक्षित

सह सम्पादक:
वागीश राज शुक्ल
बृजेश कुमार यादव
राकेश कुमार तिवारी

उप सम्पादक:
सुनील कुमार पाण्डेय
गौरव सिंह
अखिल कुमार राय

कार्यकारी सम्पादक:
अनूप पति तिवारी
विकास कुमार सिंह
विनय कुमार शुक्ल 'विद्रोही'

परामर्श मण्डल

प्रो. उमेश चन्द्र दूबे
डॉ. अजय शुक्ल
डॉ. गुरु प्रसाद सिंह
डॉ. इन्द्रजीत मिश्र
प्रो. अशोक सिंह
डॉ. राजीव श्रीवास्तव
डॉ. प्रदीप राव

संरक्षक
प्रो. रामनारायण शुक्ल
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग का.हि.वि.वि.

प्रबंध सम्पादक :
विनय शंकर राय
प्रबोधिनी फाउण्डेशन, वाराणसी

क्षेत्रीय संपर्क एवं प्रसार:
विनय कुमार शुक्ल
सम्पर्क: 9415695663

विशेष संवाददाता : दिलीप कुमार दीक्षित
: राजेश कुमार तिवारी
मुख्य व्यवस्थापक : इन्द्रेश कुमार सिंह
तकनीकी सहयोग : प्रीतिवर्धन दूबे
शब्द संयोजन : तारा शुक्ला
विधि परामर्शदाता : एड. डॉ. प्रमथेश पाण्डेय
व नीरज कुमार सिंह

संपादकीय सम्पर्क
एन 1/61-आर 1, शशिनगर कालोनी
सामनेघाट रोड, नगवाँ लंका,
वाराणसी (उ.प्र.)-221005
दूरभाष : 09838077923
Email-parmita.com@gmail.com

सम्पादक व प्रकाशक डॉ. शशांक शुक्ला द्वारा एन 1/61-आर 1, शशिनगर कालोनी सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ.प्र.)-221005 से प्रकाशित तथा मेहरोत्रा ऑफसेट, इंग्लिशिया लाइन, वाराणसी से मुद्रित।

• समस्त पद अवैतनिक, रचनाओं का दायित्व रचनाकारों पर। किसी भी विवाद का जूरिसडिक्शन वाराणसी होगा।

भीतरी पन्नों में

सम्पादकीय–

आदर्श की उच्चता और व्यवहार की निम्नता /3

विमर्श–

हमारी संस्कृति, विरासत और राष्ट्रवादी पुनर्जागरण की आवश्यकता /के.एन. गोविन्दाचार्य /5

यतो रत्न भुजो वयम् /प्रो. विभारानी दूबे /8

महादेवी वर्मा का स्त्री चिन्तन /डॉ. मीनू अवस्थी /11

पुस्तक अंश–

महामना मालवीयजी और उनकी अमर कृति /एस. सोमस्कन्दन् /13

पुस्तक परिक्रमा–

आर्ष ज्ञान–विज्ञान की दुर्लभ प्रस्तुति /अनूप पति तिवारी /16

अभियान–

भावी भारत कैसा हो? (राष्ट्रवादी दृष्टिपत्र) /के.एन. गोविन्दाचार्य /18

शोध–

समकालीन सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में गाँधी दर्शन की प्रासंगिकता /प्रीति मिश्रा /20

भारत में बाल अपराध : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण /श्रीमती कंचन, सतेश्वर कुमार जैसल /24

वाराणसी में आव्रजित दक्षिण भारतीय समूह–एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण /चिरंजीव कुमार ठाकुर /28

एक विचारधारा के रूप में उभरती नक्सलवादी संस्कृति..... /देवकीनन्दन भट्ट /30

कला के विकास में बौद्ध धर्म का योगदान /सीमा जायसवाल /33

हिन्दी कहानी का जनवादी स्वर और स्वयं प्रकाश /पद्मा सिंह /35

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में स्त्री–विमर्श /मनीषा सिंह /38

मातुल कन्या विवाह : वैध या अवैध? /प्रियंका सिंह /40

बीसवीं सदी के 'संस्कृत काव्यशास्त्रीय' आचार्यों द्वारा..... /ब्रज बिहारी पाण्डेय /42

शिवमहापुराण में आत्मा का स्वरूप /पिंकी यादव /45

श्रीमद्भागवत में प्रतिपाद्य भक्ति का स्वरूप /लोक पाल शर्मा /47

युवाओं में मद्यपान एवं मादक द्रव्य व्यसन की बढ़ती प्रवृत्ति /राजीव कुमार त्रिपाठी /48

कालिदासकृत रघुवंश में वर्णित कुलपति वशिष्ठ के गुरूकुल से..... /डॉ. समीर कुमार पाण्डेय, डॉ. बीना सिंह /50

संजीव की कहानियों में नारी चेतना विशेष संदर्भ..... /मनीष कुमार /53

वैदिक वाङ्मय में वाणी का स्वरूप /डॉ. सुशील कु. पाण्डेय, सन्तोष कु. पाठक /55

मेवाड़ के महाराजा उदय सिंह एवं अकबर : एक ऐतिहासिक अध्ययन /राजेश कुमार /57

उत्तरकालीन भारत में वजीर : एक परिचय /नीरज कुमार श्रीवास्तव /60

अकबर का राजपूत सम्बन्ध : 'एक नीतिगत आलोक में' /डॉ. कमलकिशोर /64

प्राचीन भारत में ग्राम्य जीवन /गीता यादव /67

गुप्तकालीन भू–राजस्व /विजय सिंह /70

सांख्य दर्शन में मोक्ष की अवधारणा /वेदनिधि /72

उत्तर प्रदेश का आर्थिक विकास और महिलायें /अमलेश कुमार शुक्ल /74

मानवीय संवेदनाओं के कुशल चितेरे : फणीश्वर नाथ रेणु /महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा /77

महिला स्वावलम्बन एवं सशक्तिकरण /पीयूष कुमार पाठक /79

''वैष्णव धर्म में विष्णु मूर्तियों के विभिन्न रूप'' /डॉ. श्याम बिहारी पाठक /82

मराठी संत कवयित्रियों का जीवन और काव्य /डॉ. माया देवी /83

विवेकानन्द के 'सार्वभौम धर्म' का आदर्श /अनूप पति तिवारी /85

Ethical Significance in Mergers & Acquisitions /Ms Pragya Singh /87

Social and Economical status of women in tribal society /Dr. A.P. Pandey, Laxmi Shree Mishra /91

विदग्ध गोष्ठी

पर्यावरणीय प्रदूषण से उत्पन्न खतरों का निदान वृक्ष खेती से संभव : सुन्दर लाल बहुगुणा /95

भारतीय कालगणना ही वैज्ञानिक और प्रामाणिक : प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज' /96

सम्पादकीय

आदर्श की उच्चता और व्यवहार की निम्नता

स्त्री आरक्षण पर लोकसभा में बवाल और राज्यसभा के गुप्त द्वार रूपी रास्ते से पास हुआ महिला आरक्षण बिल और उसके बाद कांग्रेस का यह कहना कि बिल पर सभी दलों से सहमति ली जायेगी यह किसी घटिया नाटक से अधिक न था। कुछ महीनों पूर्व तेलंगाना मुद्दे को लेकर कांग्रेस जिस प्रकार सांप – छूछंदर का खेल खेल रही है, उसी की पुनरावृत्ति महिला आरक्षण विधेयक के मुद्दे पर हुई। पता नहीं यह कांग्रेस की दुविधा है या फिर देश की जनता यह समझ नहीं पा रही कि जिस सरकार को उसने महँगाई की मार के बावजूद सत्ता सौंपी, वह इतनी कमजोर इच्छाशक्ति वाली और निर्बल कैसे निकली ?जैसा कि टेलकार्ट पार्सन के शब्दों में 'इतिहास चुनने की प्रक्रिया है' तो हमारा चुनाव हमेशा ही गलत निकला है।

भारतीय समाज और संस्कृति में आदर्श और यथार्थ के बीच लम्बे फासले रहे हैं। एक ओर देवी संबंधी अवधारणा और दूसरी ओर सती रुपी अमानुषिक अत्याचार और हिंसा का बर्बर ताण्डव। एक ओर रक्षाबंधन का बंधन दूसरी ओर संबंधों का रागहीन होता समाज। लगता है हमारा भारतीय समाज अंतर्विरोधों की चादर (रेशे) से बुना गया है। यह अंतर्विरोध शास्त्र में भी है और समाज में भी। गीता में एक ओर जहां 'स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि' कहकर उसे निम्न दर्जे का बताया गया वहीं दूसरी ओर ''कीर्तिः श्रीवक्चि नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।'' जितनी भी प्रज्ञावान व्यक्ति की सूक्ष्मतर विशेषताएं हैं उन्हें नारी में समाविष्ट कर दिया गया। उसी प्रकार तुलसी ने जिस प्रकार 'पराधीन सपनेंहु सुख नाहिं' कहकर नारी–पीड़ा का संकेत किया दूसरी ओर 'अधम से अधम मैं नारी' कहकर उसकी सामाजिक– स्थिति बताई उसी प्रकार मनुस्मृति का यह प्रसिद्ध वाक्य 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'। तात्पर्य यह है कि एक ओर आदर्श की उच्चता और दूसरी तरफ व्यवहार की निम्नता।

आंकड़ों को देखें तो न्यूजीलैंड प्रथम देश था, जिसने 1893 में महिलाओं को राजनीतिक अधिकार प्रदान किए। उसके पश्चात आस्ट्रेलिया (1902), फिनलैण्ड (1906), कनाडा (1908) एवं विकसित देश स्वीट्जरलैण्ड ने (1971) में अधिकार प्रदान किये। भारतीय राजनीति की ही बात करें तो एनी बेसेन्ट पहली महिला थी जो सन् 1917 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गईं। उसके पश्चात तो कमला डी चट्टोपाध्याय, दुर्गाबाई देशमुख, लीलावती मुंशी, सरोजनी नायडु, विजय लक्ष्मी पंडित, लक्ष्मी मेनन, अरूणा आसिफ अली जैसी अनेक महिलाओं ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सफलता पूर्वक नेतृत्व किया। आजादी के बाद तो व्यापक तौर पर पश्चिम के नारीवादी आन्दोलनों (सीमोन दे बोउआर की द सेकण्ड सेक्स) एवं स्त्री सहभागिता ने सिद्ध कर दिया जहाँ नारियों की स्थिति जितनी बेहतर है, अग्रणी हैं वह देश ज्यादा विकास के पथ पर अग्रसर है। हमारा भारतीय समाज जब तक मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अंतर्गत रहा तब तक यह ज्ञान–विज्ञान की नयी–नयी उपलब्धियों को प्राप्त करता रहा। किन्तु जैसे ही यह लिंग–जाति के खेमों में बँटा यह अपने पतन के रास्ते पर निकल पड़ा।

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर लें कि 33 प्रतिशत आरक्षण क्या पुरूष समाज के अस्तित्व पर संकट है? क्या महिला आरक्षण राजनीतिक हथकंडा है? क्या 50 प्रतिशत की भागीदारी रखने वाली स्त्री–समाज को 33 प्रतिशत का झुनझुना पकड़ा देना ठीक है? क्या आरक्षण से सामान्य वर्ग की महिलाएँ भी राजनीतिक या मुख्य धारा में आयेंगी या केवल उच्च वर्ग की महिलाएँ ही? 9 प्रतिशत की संसद उपस्थिति वाली महिलायें क्या किसी पुरूष समाज की कृपा से ही राजनीति में हैं या अपनी आन्तरिक इच्छा शक्ति से भी? क्या महिलाओं के राजनीति में आने से गुण्डागर्दी, भ्रष्टाचार या माफ़ियाराज पर अंकुश लगेगा? जाहिर है कि ढेरों ऐसे प्रश्न हैं जिस पर व्यापक स्तर पर सामाजिक राजनीतिक गलियारों में चर्चा – परिचर्चा कर महिला आरक्षण विधेयक को आम सहमति से लागू किया जा सकता है। इस संदर्भ में यह प्रश्न वाहियात या गैर जरूरी है कि महिला आरक्षण विधेयक आने से ही स्त्री सशक्तिकरण होगा।

हाँ यह जरूर है कि स्त्री सशक्तिकरण (यानी समाज) से देश जरूर सशक्त होगा। यह एक गलत सोच होगी कि महिला–शक्ति का विकास किसी आरक्षण का मोहताज है। अतएव यह समझना कि विधानसभा या लोकसभा में इन्हें 33 प्रतिशत या किसी अन्य सीमा तक सीटे आरक्षित कर इनके राजनीतिक विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है, एक आधी–अधूरी अवधारणा है। अगर यह सफल हो पाता है तो यह न्यायोचित होगा। अगर नहीं हो पाता है अथवा इसे रोकने की कोशिश की जाती है, तो भी इसका प्रतिफल किसी दूसरे रूप में सामने अवश्य आयेगा। आज वैश्विक स्तर पर महिला शक्ति जिस धरातल पर खड़ी है, वह धरातल न किसी की कृपा से मिला है न किसी का दिया हैं; सारी उपलब्धियाँ उसकी स्वयं की अर्जित की हुई हैं। वर्तमान में जिस क्षमता का प्रदर्शन वह कर रही है; वह क्षमता यह सिद्ध करती है कि किसी से याचना करने की जगह वह स्वयं आगे बढ़कर उसे हस्तगत कर लेगी।

❑

विमर्श-१

हमारी संस्कृति, विरासत और राष्ट्रवादी पुनर्जागरण की आवश्यकता

के.एन. गोविन्दाचार्य

''अपनी अक्षय विरासत के बावजूद हम अपना मूल्यांकन पश्चिमी देशों के प्रचलित मानदंडों के आधार पर करते हैं। हम लगातार अपने आप को तृतीय विश्व से द्वितीय विश्व की ओर आगे बढ़ाने में लगे हैं और इसे ही अपनी उपलब्धि माने बैठे हैं। असल में हमने अपना ध्यान विश्व के साथ प्रतिस्पर्धा में नहीं वरन् मन ही मन स्वयं से प्रतिस्पर्धा में लगा रखा है। हम यह भूल गये हैं कि पश्चिमी देशों की 'विकसित' दुनिया के लोग जब समुदायिक जीवन का क-ख-ग सीख रहे थे, उस समय भारत में राजस्व, कर-प्रणाली एवं नागरिक नियम प्रणाली सहित बहुआयामी शासन प्रणाली विद्यमान थी। भारत की इसी बौद्धिक समृद्धि एवं धन-सम्पदा ने संतो/सत्पुरूषों एवं पापियों दोनों को आकर्षित किया।''

भारत विश्व की उन दो सभ्यताओं में से एक है, जिसका पिछली कई सदियों का सतत् एवं निर्बाध इतिहास रहा है। अन्य दूसरी सभ्यता 'चीन' की है। विश्व में ऐसी अन्य सभ्यताएं भी रही हैं जिनका उद्भव मानव–इतिहास के प्रारंभिक चरण में हुआ था, लेकिन भारत और चीन की सभ्यताओं को छोड़कर उनमें से कोई भी आधुनिक युग तक जीवित नहीं रह पायी। समय के इस लम्बे चक्र में भारत के जीवन और समाज में काफी परिर्वतन हुए हैं। लेकिन, वास्तविक, सारभूत एवं विशिष्ट रूप में, भारत के जीवन को आज भी उन्हीं आदर्शों, सिद्धान्तों एवं वरीयताओं को सार रूप में 'सनातन धर्म' के रूप में जाना जाता है। विदेशी इतिहासकार एवं कई विद्वान भारत की भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी विविधता के बावजूद देश के सभी भागों में पायी जाने वाली अतिविशिष्ट एकरूप सभ्यता को देखकर प्रायः आश्चर्यचकित हो जाते हैं। यह एकरूपता 'सनातन धर्म' की आध्यात्मिक चेतना के रूप में प्रवाहित होती है। 'सनातन धर्म' के मूल दर्शन के अनुसार सभी जीव–जंतु एवं वनस्पतियों में ईश्वर का वास है। सृष्टि के प्रत्येक पहलू जिसमें प्रकृति एवं मानव जीवन की संपूर्ण विविधताएं सम्मिलित हैं, का सम्मान एवं रक्षण–पोषण किया जाना चाहिए। धर्म के इस सार रूप को श्रीअरविन्द ने 'राष्ट्रवाद' का पर्यायवाची माना था।

भारत ऐसी प्राकृतिक विशेषताओं से युक्त है जो संसार में अन्य किसी जगह नहीं पायी जाती हैं। बीसवीं सदी के औपनिवेशिक साम्राज्यों के प्रारंभिक भूगोलवेत्ता 'भारत के प्रत्येक पहलू को सर्वोत्तम के रूप में जानते–पहचानते थे। उस समय भारत की जो खूबियां थीं, उनमें से अधिकतर आज भी विद्यमान हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश हम उनके बारे में भूलते जा रहे हैं। हमें मालूम होना चाहिए कि भारत का भूगोल कई विशेषताओं से संपन्न है। यहां की भूमि का 3/5 भाग कृषि योग्य है, जो विश्व में अद्वितीय हैं विश्व के अन्य स्थानों पर कुल भूमि का मात्र 1/5 हिस्सा ही कृषि योग्य है। भारत की कृषि योग्य भूमि का 2/5 भाग सिंधु–गंगा के मैदानों में स्थित है। यह विशाल भू–भाग लम्बाई में लगभग 3,000 किलोमीटर ओर चौड़ाई में 250 से 400 किलोमीटर तक फैला हुआ हैं विश्व के किसी देश में उपजाऊ भूमि का इतना बड़ा इलाका नहीं है। इस मैदान का निर्माण हिमालय की मिट्टी की गहराई 1,300 से 14,00 मीटर तक आंकी गई है। इतनी गहराई तक मिट्टी का होना विश्व के अन्य किसी भाग में अकल्पनीय है। हालांकि विश्व में कई नदियां हैं, लेकिन कुछ ही ऐसी हैं जिनकी लंबाई गंगा से अधिक है या जो गंगा से अधिक सिल्ट ले आती हैं। जहां तक जीवनदायिनी शक्तियों एवं आध्यात्मिक प्रभाव का प्रश्न है दुनिया की कोई गंगा का मुकाबला नहीं कर सकती। भारत में गंगा के साथ–साथ अन्य कई महत्वपूर्ण नदियों का जाल बिछा हुआ है। उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारत के प्रत्येक भाग में कोई न कोई महान नदी या कोई अन्य जल संपदा है और उसके किनारे सभ्यता पलती आ रही है। उपजाऊ मिट्टी एवं जीवन–दायिनी नदियों के अतिरिक्त, भारत में बारिश एवं सूरज की धूप भी प्रचुर मात्रा मे मिलती है। इनसे वनस्पति की वृद्धि एवं विविध रूपों में जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण होता है। भारत में औसतन बारिश 105 से0मी0 है जो विश्व के किसी अन्य देश की तुलना में बहुत अधिक है। इस प्रकार असाधारण प्राकृतिक निधियों से संपन्न, भारत के लोगों ने पिछले कई हजार वर्षों से प्रकृति के वरदान को प्रचुर अनाज पैदा करने एवं विविध भौतिक संपदाओं का निर्माण करने में अपने अद्वितीय कौशल का परिचय दिया

'राज्य, उनकी सुरक्षा के लिए है जो खुद अपनी सुरक्षा नहीं कर सकते।' यही हमारे या किसी भी अन्य सभ्य समाज का मूलमंत्र है। हमारे संविधान में भी यही भावना निहित है। लेकिन आज वस्तुस्थिति कुछ और है। भारतीय गणतंत्र के सभी स्तंभों- विधायिका, कार्यपालिका (अधिक) और न्यायपालिका (भाग्यवश कम), को दलीय संरचना में भाग लेने के लिए बाध्य किया जा रहा है।

है। यह बात सर्वविदित है कि उन्नीसवीं सदी तक कृषि, सिंचाई, धातु–विज्ञान, वस्त्र एवं चिकित्सा विज्ञान आदि क्षेत्रों में भारतीय ज्ञान एवं कौशल का विश्व में कोई सानी नहीं था। इस देश में रहने वाले लोगों को ऐसा भूगोल एवं पर्यावरण मिला है कि वे अपने सामुहिक प्रयासों से कभी भी प्राचीन वैभव को प्राप्त कर सकते हैं। भारत भूमि को विश्व सभ्यता का पालना ऐसे ही नहीं कहा जाता है।

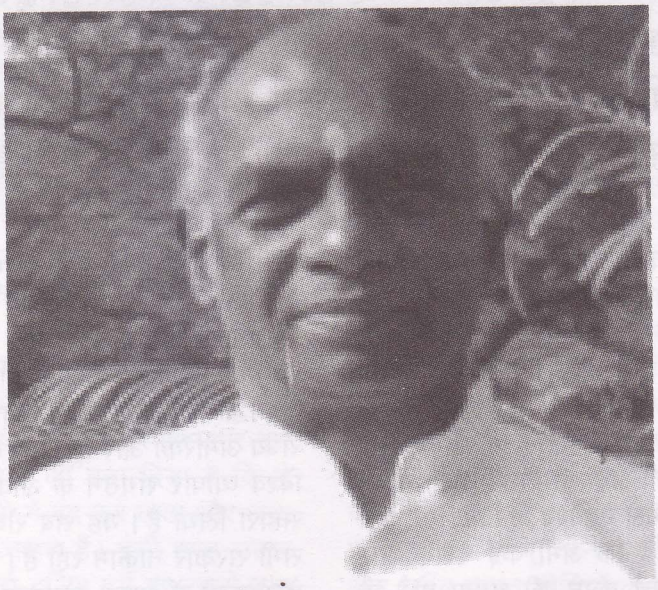

हमारी सांस्कृतिक विचारधारा की जड़ें हमारी प्राचीन सभ्यता में निहित हैं। आंतरिक मूल्यों का साकार रूप विश्व शांति एवं विश्व–परिवार अर्थात 'वसुधैव कुटुम्बकम' की संकल्पना में प्रतिष्ठापित है। ये मूल्य 'लोके समस्त सुखिना भवंतु' से प्रेरित हैं। भारत में उत्पन्न सभी धर्मों एवं भाषाओं का मूल भाव यही है। हमारी सभ्यता की यही पहचान है और इसे ही महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद और श्रीअरविन्द जैसे महापुरूषों ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की संज्ञा दी है। हिन्दुत्व की विचारधारा भी इससे अलग नहीं है। हिन्दुत्व को हम 'हिन्दूवाद' या 'हिन्दूपन' के रूप में ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। हिन्दुत्व को आज के प्रचलित अर्थों में केवल एक धर्म के रूप में नहीं समझा जा सकता है। यह अपनी तमाम विशिष्टताओं के साथ एक सांस्कृतिक–अवधारणा है जो भक्ति एवं श्रद्धा के सभी पवित्र रूपों को धारण करता है। 'हिंदुपन' में भक्ति के सभी रूपों का सम्मान होता है; क्योंकि इसके अनुसार सभी सजीव और निर्जीव प्राणियों में चेतना है, उनमें ईश्वर का अंश है। इस प्रकार देखें तो हिन्दूवाद यानि समतावाद। हिन्दू दर्शन में मानव प्रकृति का विजेता नहीं है, वरन् प्रकृति का एक हिस्सा है। इसी कारण हिन्दू जीवनशैली पर्यावरण के सर्वाधिक अनुकूल है।

साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात, राष्ट्र को अभी अपनी सांस्कृतिक विरासत, सभ्यता और जीवन मूल्यों से प्रेरणा लेते हुए नई उंचाइयों को छूना है। अब वह समय आ गया है जब हमें असीम संभावनाओं को तलाशने के लिए अपने सभी भौतिक एवं मानवीय संसाधनों की मदद से राष्ट्रवादी विचारधारा को विकसित करना है ताकि जल्द से जल्द 'भारत' अपनी आधिकारिक प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के छः दशक बाद भी हम अपनी राष्ट्रीय पहचान को ढूंढ रहे हैं। अपनी अक्षय विरासत के बावजूद हम अपना मूल्यांकन पश्चिमी देशों के प्रचलित मानदंडों के आधार पर करते हैं। हम लगातार अपने आप को तृतीय विश्व से द्वितीय विश्व की ओर आगे बढ़ाने में लगे हैं और इसे ही अपनी उपलब्धि माने बैठे हैं। असल में हमने अपना ध्यान विश्व के साथ प्रतिस्पर्धा में नहीं वरन् मन ही मन स्वयं से प्रतिस्पर्धा में लगा रखा है। हम यह भूल गये हैं कि पश्चिमी देशों की 'विकसित' दुनिया के लोग जब समुदायिक जीवन का क–ख–ग सीख रहे थे, उस समय भारत में राजस्व, कर–प्रणाली एवं नागरिक नियम प्रणाली सहित बहुआयामी शासन प्रणाली विद्यमान थी। भारत की इसी बौद्धिक समृद्धि एवं धन–सम्पदा ने संतो/सत्पुरूषों एवं पापियों दोनों को आकर्षित किया।

यह दुःखद है किन्तु सत्य है कि छः दशकों के बाद भी हमें एक विकसित देश की पहचान प्राप्त करनी है। हालांकि देश ने बदलाव की ओर अपने कदम बढ़ा दिए हैं, लेकिन अपनी संस्कृति एवं नैतिक सर्वसत्ता के प्रति स्वाभिमान न होने के कारण हमारे कदमों में पर्याप्त मजबूती नहीं है। हमारी राष्ट्रवादी सोच हर समय नीचे रही है। हम सबसे बड़े लोकतांत्रिक राष्ट्र होने पर गर्व तो करते हैं लेकिन साथ ही इसके निस्तेज स्वरूप को देखकर निराश भी होते हैं। अनियंत्रित भ्रष्टाचार ने लोकतंत्र को खोखला बना दिया है। हमारी कमजोर नीतियां अपने क्रियान्वयन के

लिए एक कमजोर शासन व्यवस्था पर निर्भर हैं। परिणामतः हमारा विकास जन्म से ही अपंग हो जाता हैं देश की उन्नति का विचार अंकुरित होने के पहले ही मुरझा जाता है। लोकतंत्र के रखवाले समझे जाने वाले राजनीतिक दलों ने पिछले सभी वर्षों में अपने निरंतर लाभ के लिए जिम्मेदारी न उठाने और जवाबदेही दूसरों पर लादने की कला में महारत हासिल की है। प्रत्येक पांच वर्षो में होने वाली लोकतांत्रिक प्रतियोगिता इस विचारधारा पर आधारित नहीं होती कि देश की जिम्मेदारी उठाने में कौन अधिक नैतिक है, बल्कि इस विचारधारा पर आधारित होती है कि कौन अपनी कूटनीतिक चालों के साथ नागरिकों को सबसे अधिक धोखा दे सकता है।

राष्ट्रवादी ताकतों का संगठन समय की जरूरत है। इस संगठन को इतना मजबूत बनाया जाना चाहिए कि पश्चिमी शक्तियों के निवारण के लिए यह अपराजेय सिद्ध हो। प्रस्तावित संगठन के लिए आम आदमी और उसके पर्यावरण की रक्षा पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। उसे आम आदमी के हित को ध्यान में रखते हुए देशके समक्ष शासन की अधिक मजबूत वैकल्पिक नीतियां रखनी होंगी। यह सब करने के लिए किसी प्रकार की हिंसा का प्रयोग घातक एवं प्रतिगामी होगा। इससे वही ताकतें मजबूत होंगी जिन्हें हम हटाना चाहते हैं। इसलिए हमें लोकतांत्रिक ढांचे में रहते हुए अहिंसक तरीके से ही अपनी मंजिल को प्राप्त करना है। इसके लिए संवाद, सहमति एवं सहकार हम सभी का मूल मंत्र होना चाहिए।

हमारे देश की गिनती अभी भी पिछड़े देशों में की जाती है भौतिक समृद्धि के मामले में विश्व के विकसित देशों की बराबरी करने में लगता है कि अभी कई दशक और लगेंगे। संपूर्ण विश्व का नेतृत्व करने की क्षमता होने के बावजूद नयी सदी की शुरूआत में हम उस स्थान पर खड़े हैं जहां हमारी अधिसंख्यक जनता के पास बुनियादी जरूरतों को पूरा करने लायक संसाधन भी नहीं हैं। मानव विकास सूचकांक के संदर्भ में हमारे तेजी से विकास कर रहे अगुआ राज्यों की तुलना यूगांडा, कांगों और चाड जैसे देशों से की जाती है। अभी हाल ही में सरकार द्वारा गठित अर्जुन सेन गुप्ता समिति की रिपोर्ट आयी है जिसमें बताया गया है कि देश की लगभग तीन चौथाई आबादी 20 रूपए प्रतिदिन से भी कम पर अपना जीवन चलाने के लिए विवश है। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि लगभग 1 अरब की हमारी कुल जनसंख्या में 29.6 करोड़ लोग निरक्षर हैं, जबकि 23.3 करोड़ लोग कुपोषण के शिकार हैं; जिनमें से अधिकतर 3 वर्ष से कम उम्र के बच्चे हैं। सामाजिक आर्थिक समस्याओं के साथ–साथ भयभीत कर देने वाली गरीबी ने हमारे राजनीतिक नव प्रयोगों को असफल कर दिया हैं। इन विचलित कर देने वाले आंकड़ों की परवाह न करते हुए हमारे राजनीतिक दल सत्ता की अंधी दौड़ में शामिल हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य किसी भी कीमत पर राजनीतिक सत्ता हासिल करना है। लहूलुहान देश को स्वस्थ्य बनाने की चिंता किसी को नहीं है।

'राज्य, उनकी सुरक्षा के लिए है जो खुद अपनी सुरक्षा नहीं कर सकते।' यही हमारे या किसी भी अन्य सभ्य समाज का मूलमंत्र है। हमारे संविधान में भी यही भावना निहित है। लेकिन आज वस्तुस्थिति कुछ और है। भारतीय गणतंत्र के सभी स्तंभों– विधायिका, कार्यपालिका (अधिक) और न्यायपालिका (भाग्यवश कम), को दलीय संरचना में भाग लेने के लिए बाध्य किया जा रहा है। इन सभी को विश्व बैंक द्वारा निर्धारित किए गए एजेंडे को लागू करने के लिए तैयार किया जा रहा है। इसके लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय देशों के पूंजीवादी संगठनों ने विश्व व्यापार संगठन के आवरण में चल रही वार्ताओं का सहारा लिया है। यह सब रोकने में दिल्ली में बैठने वाली सभी सरकारें नाकाम रही हैं। उल्टे उन्होंने इस प्रक्रिया को तेज करने में अपना योगदान ही दिया है। विश्व बैंक एवं डब्ल्यू0टी0ओ0 के निर्देशानुसार यूपीए सरकार ने देश की हजारों एकड़ जमीन का अधिग्रहण एस0 ई0 जेड0 और एफ0 टी0 जेड0 बनाने के लिए किया। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आकर्षित करने के नाम पर उन्होंने भूमि सुधार लागू करने एवं कृषि क्षेत्र को आवश्यक सहयोग देने की नीति का परित्याग कर दिया। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में यूपी सरकार यह कह कर अपनी पीठ थपथपा रही है कि उसके कार्यकाल में देश की जीडीपी में कृषि की बजाय सेवा क्षेत्र का योगदान अधिक है। इसे मानसिक दिवालियापन नहीं तो और क्या कहेंगे। इसी तरह संप्रग सरकार ने देश रूपी बड़े मकान के एक छोटी सी दीवार पर सफेदी कराके यह घोषणा कर दी कि पूरा देश चमचमा रहा है। ऐसे माहौल में जब देश के 1,75,000 किसानों ने हताशा में आत्महत्या कर ली थी, संप्रग नेताओं ने चमचमाते भारत का नारा देकर चुनावी दंगल में छलांग लगा दी। इससे पता चलता है कि देश के दोनों बड़े राजनीतिक जमावड़े किस हद तक जनता और उसकी जरूरतों से कट चुके हैं।

बड़े राजनीतिक समूहों ने जिस राष्ट्र और राष्ट्रवाद की परिकल्पना को पोषित किया है, वह वास्तव में पूंजीवादी राजशाही के गुणगान के अलावा और कुछ नहीं है। हमें गुरूदेव श्री रविन्द्र नाथ टैगोर ने इन खतरों की चेतावनी कई वर्ष पहले ही दे दी थी। उन्होंने कहा था, ''हमें शताब्दियों से पश्चिम की समृद्धि के रथ के पीछे घसीटा जा रहा है। इसकी धूल से हमारा दम घुट रहा है। इसके शोर से हमारे कान बहरे हो रहे हैं। असहाय होने के भाव से हम दबे हुए हैं और रथ की तेज गति ने हमें आतंकित कर रखा है। हमने यह मान लिया है कि इस रथ की यात्रा से ही प्रगति होगी और उसी प्रगति को सभ्यता माना जाएगा। यदि हमने गलती से भी कभी पूछ लिया कि यह 'प्रगति' किस ओर जा रही है और 'किसके लिए' है तो इसे बेतुका और पिछड़ी सोच का नतीजा बताया जाता है हमें कहा जाता है कि 'प्रगति' ऐसे सवालों से परे है। लेकिन देर से ही सही हमें एक आवाज सुनाई दे रही है जो कह रही है कि केवल इस 'रथ' की वैज्ञानिक पूर्णता को ही नहीं, अपितु इसके मार्ग में पड़े 'गड्ढों' की गहराई को भी देखने का प्रयास करो।'' गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर द्वारा आगाह किए जाने के बाद भी हम उन गड्ढों को देखने की कोशिश नहीं कर रहे हैं।

संप्रग और राजग जैसे बड़े राजनीतिक समूहों के साथ–साथ कई राज्यों में जड़ें जमा चुके लोकतांत्रिक नवाबों ने भी जनता के लिए कम मुश्किलें नहीं पैदा की हैं। पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्ट शासन कहने के लिए तो सर्वहारा वर्ग के खेतिहर किसानों और मजदूरों का दल है; लेकिन हकीकत कुछ और है। नंदीग्राम और सिंगुर में उन्होंने जो किया उससे उनकी एक नई तस्वीर उभर कर सामने आयी है। उन्होंने दुनिया को बता दिया है कि वे मार्क्स और एंजल को आलमारी में बंद कर टाटा और अन्य पूंजीपतियों से दोस्ती करना चाहते हैं। इसी तरह उत्तर प्रदेश में एक ऐसा शासन है जो दलित वर्ग का सबसे बड़ा पैरोकार होने का दावा करता है। लेकिन उसकी प्राथमिकता में वंचित समाज की बुनियदी जरूरतों को पूरा करना नहीं बल्कि हजारों करोड़ रूपए खर्च करके मूर्तियां स्थापित करवाना हो गया है। लोकतांत्रिक सिद्धान्तों और प्रशासन की मौलिक जरूरतों की परवाह न करते हुए पूरे देश में इस समय उन लोगों की तूती बोल रही है; जिन्होंने राष्ट्रवाद को या तो भुला दिया है या उसे अपनी सुविधानुसार परिभाषित कर लिया है। चारों ओर चाटुकारिता का बोलबाला है। लोकतंत्र के आवरण में वंशवाद फिर से जड़ें जमा रहा है। सत्ता में बने रहने के लिए यदि विदेशी को भी सिर पर बिठाना पड़े तो किसी को कोई एतराज नहीं है।

कभी राजनीति का मतलब होता था, स्वेच्छा से देश की सेवा करना। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राजनीति ने ऐसे महान लोगों को जन्म दिया जिन्हें आज पूरे विश्व में आदर के साथ याद किया जाता है। लेकिन आज के दौर में राजनीति में शामिल होने के लिए नये मानदण्ड बन गये हैं। आजकल अकूत धन एवं अधिकाधिक आपराधिक ताकतों को जुटाने की क्षमता को राजनीति के लिए आवश्यक मान लिया गया है। 2009 के संसदीय चुनावों में प्रत्येक राजनीतिक दल ने सत्ता प्राप्ति के लिए आपराधिक पृष्ठभूमि के उम्मीदवारों की मदद ली। यही कारण है कि वर्तमान संसद में पिछली संसद की तुलना में आपराधिक छवि वाले सांसदों की संख्या 17.2 प्रतिशत अधिक है। मतदाताओं के पास चुनाव के लिए यह आधार नहीं होता कि किस उम्मीदवार ने राष्ट्र की कितनी सेवा की। उन्हें तो यह तय करना होता है कि तमाम भ्रष्टाचारियों की तुलना में सबसे कम भ्रष्टाचारी कौन है। संवैधानिक प्रतिनिधित्व की यह दुर्दशा सभी राष्ट्रवादियों के मन को झकझोर कर रख देती है।

अब यह साबित हो चुका है कि कोई भी राजनैतिक दल अपने वर्तमान स्वरूप में देश के लिए आंदोलन करने एवं राष्ट्रवादी गौरव को पुनः हासिल करने में सक्षम नहीं है। इन दलों की विचारधारा आम आदमी के दम पर हासिल की गयी राष्ट्र की चमक को संकट में डालने के सिवा और कुछ नहीं कर सकती है। देश का उद्धार तो एक ऐसी शक्ति से होगा जिसकी जड़ें भारत के आम आदमी के बीच फैली हुई हों। हमें एक ऐसी ताकत के उत्थान के लिए काम करना है जो 'अमेरिकी वाद' और 'डब्ल्यूटीओवाद' को छोड़ भारत परस्त और गरीब परस्त लक्ष्यों के लिए काम करे। हमें एक ऐसी विचारधारा चाहिए जिसके लिए देश के लोग और उनकी जरूरतें पहली प्राथमिकता हों। इसके लिए उन सभी संगठनों, समूहों एवं दलों को आगे आना होगा जो मूल्यों और मुद्दों की राजनीति–दायित्व को समझते हों। उन्हें उन ताकतों को पहचान कर मजबूत बनाना होगा जो मूलतः भारत परस्त और गरीब परस्त नीतियों के पक्षधर हैं। राष्ट्रवादी ताकतों का संगठन समय की जरूरत है। इस संगठन को इतना मजबूत बनाया जाना चाहिए कि पश्चिमी शक्तियों के निवारण के लिए यह अपराजेय सिद्ध हो। प्रस्तावित संगठन के लिए आम आदमी और उसके पर्यावरण की रक्षा पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। उसे आम आदमी के हित को ध्यान में रखते हुए देशके समक्ष शासन की अधिक मजबूत वैकल्पिक नीतियां रखनी होंगी। यह सब करने के लिए किसी प्रकार की हिंसा का प्रयोग घातक एवं प्रतिगामी होगा। इससे वही ताकतें मजबूत होंगी जिन्हें हम हटाना चाहते हैं। इसलिए हमें लोकतांत्रिक ढांचे में रहते हुए अहिंसक तरीके से ही अपनी मंजिल को प्राप्त करना है। इसके लिए संवाद, सहमति एवं सहकार हम सभी का मूल मंत्र होना चाहिए।

●●●●

*प्रख्यात् चिंतक व विचारक

विमर्श-२

यतो रत्न भुजो वयम्

प्रो. विभारानी दूबे

"शुम्भ और निशुम्भ मात्र असुर नहीं, ये प्रतिनिधित्व करते हैं एक जाति का, विशिष्ट मनोवृत्ति वाले एक समुदाय का, असुरत्व से अभिहित होने वाली एक प्रवृत्ति का। संसार में जो मनोहर, जो मनोरम, आद्य, विशिष्ट लगा-सबको हस्तगत करने की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति शनैः-शनैः मस्तिष्क को इस तरह संकुचित करती जाती है कि "हम और हम ही रत्नोपभोक्ता हैं"।

नव संवत्सर का आरम्भ चैत्रमास दुर्गा के नौ रूपों की उपासना से दुर्गा– जो दुर्गम है, अगम्य हैं उसको भी पार करा दे, ऐसी शक्ति की उपासना के पर्व से नवसंवत्सर का आरम्भ। विघ्नहरण आदिदेव के रूप में प्रतिष्ठित श्रीगणेश की उपासना से भी तो नवसंवत्सर का स्वागत किया जा सकता था, क्या दुर्गा की उपासना किसी विशेष अभिप्राय को सूचित करती है? अवश्य; प्रथम चरित्र महाकाली का है, जिसमें जगत् के पालन कर्ता विष्णु के योग निद्रा में सो जाने पर सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा के ही आपद्ग्रस्त हो जाने पर सृष्टि की रक्षा के निमित्त योगनिद्रा के आवरण का संवरण।

वस्तुतः दुर्गासप्तशती में देवी के क्रमशः तीन रूपों का स्तवन है– प्रथम महाकाली, द्वितीय महालक्ष्मी और तृतीय महासरस्वती का। प्रथम चरित्र में महाकाल पर नियमन के प्रयास का चित्रण है। चक्रवत् घूमता हुआ यह जगत् मात्र नियमित हैं तो महाकाल से, कोई इसकी गति को न रोक सकता है न अपने अनुसार परिचालित कर सकता है। छोटे–छोटे पिण्ड से लेकर महापिण्ड तक यह चक्र अनवरत, अविच्छिन्न अबाध चल रहा है। इसी परिवर्तन या घूर्णन का चरम रूप सृष्टि और प्रलय हैं। प्रलय के समय जब सम्पूर्ण सृष्टि सूक्ष्म रूप में लीन हैं अपने कारण में जगत् के पालनकर्ता योगनिद्रा में विश्राम कर रहे हैं, ऐसे में मधु और कैटभ जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा को ही समाप्त करने को ही समाप्त कर देने को उद्यत हैं अर्थात सृष्टि की सम्भावना को ही समाप्त करने का सन्नद्ध अर्थात महाकाल पर ही नियंत्रण का प्रयास। प्रथम चरित्र की देवता महाकाली हैं और महाकाली की प्रसन्नता के लिए ही प्रथम चरित्र के जप का विनियोग है। इस प्रसाद का ही परिणाम है योगनिद्रा का संवरण, विष्णु का जागृत होना, मधु कैटभ का वध अर्थात् प्रलय से सृष्टि की ओर प्रवर्तन।

मध्यम चरित्र की देवता महालक्ष्मी हैं। लक्ष्मी– शोभा का, ऐश्वर्य का अभिधान है। महालक्ष्मी क्यों? क्योंकि ब्रह्मण्ड का समस्त ऐश्वर्य, सम्पूर्ण शक्ति पुंजीभूत हो महातेज के रूप में प्रकट हुई। शंकर के तेज से मुख, यम के तेज से केश, विष्णु के तेज से भुजायें, ब्रह्मा के तेज से चरण सूर्य के तेज से अंगुलियाँ, प्रजापति के तेज से दाँत, अग्नि के तेज से तीनों नेत्र, सन्ध्या के तेज से भौहें तथा वायु के तेज से कान–आशय मात्र यही है कि राशिभूत समस्त देवताओं के तेज पुंज ने तेज से तीनों लोकों को चमत्कृत करने वाले वपुस को धारण किया। समस्त देवताओं के अधिकार को छीनकर महिषासुर सबका अधिपति बन बैठा था। सभी देवताओं के तेजांश का एकीकृत रूप दुर्गा का विग्रह बना और सबके अस्त्र–शस्त्रों का शक्तिपुंज उनके अस्त्र–शस्त्र बने। देवताओं की शक्ति के इस एकीकृत रूप ने अकेले ही दानवों की विशाल सेना का संहार कर डाला।

उत्तरचरित्र की देवता हैं महासरस्वती। सरस्वती

जो वाणी की अधिष्ठात्री देवी हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी स्वरूपा वाणी में काली की जिह्वा के उपलक्षण द्वारा मात्र बैखरी स्वरूप पर ही यहाँ बल दिया गया है। वस्तुतः वैखरी से ही सम्पूर्ण व्यवहार नियमित और संचालित है – रक्तबीज के वध में बैखरी की ही मुखरता अभीष्ट भी है। वस्तुतः उत्तर चरित्र में लक्ष्य है शुम्भ और निशुम्भ का वध। शुम्भ से अपमानित और निशुम्भ से पराजित देवताओं की स्तुति से पार्वती के शरीर कोश से शिवा (कल्याण स्वरूपा) कौशिकी की उत्पत्ति हुई। शुम्भ और निशुम्भ के भृत्य चण्ड और मुण्ड ने जब उसे देखा तो अपने स्वामी से यह निवेदन किया कि त्रैलोक्य में जो भी मणि, अश्व, गज आदि रत्न हैं वे सभी आपके घर में सम्प्रति सुशोभित हैं। हाथियों में रत्नभूत ऐरावत, यह पारिजात का वृक्ष और यह उच्चैःश्रवा घोड़ा सब इन्द्र से ले लिया, हंसों से जुड़ा हुआ रत्नभूत विमान ब्रह्मा से, महापदानामक निधि कुबेर से छीन ली, सुवर्ण की वृष्टि करने वाला यह छत्र आपके घर में सुशोभित हैं मृत्यु की उत्क्रान्तिदा नामक शक्ति आपने छीन ली, वरूण का पाश तथा समुद्र आपके भाई के अधिकार में हैं अग्नि ने भी स्वतः शुद्ध किये हुये वस्त्र आपकों प्रदान किया है तथा समुद्र ने किंजल्किनी नामक कभी न सूखने वाली माला आपकों भेंट की है। अनुपम सुन्दरी उस रत्नभूता स्त्री की रूप प्रभा से सम्पूर्ण दिशायें प्रकाशित हो रही हैं। हे असुरेश्वर! वह स्त्री कौन है आप पता लगाइयें और उसे ले लीजियें–

"ज्ञायतां काप्यसौ देवी गृह्यतां चासुरेश्वर।
स्त्रीरत्नमतिचार्वङ्गी द्योतयन्ती दिशस्त्विषा।।"[1]

चण्ड–मुण्ड के इस वचन को सुनकर शुम्भ ने महादैत्य सुग्रीव को देवी के पास इस आशय से भेजा कि देवी प्रसन्न होकर शीघ्र ही शुम्भ के निकट आ जायें। सुग्रीव ने देवी के समक्ष निवेदन किया कि तीनों लोकों के स्वामी शुम्भ के द्वारा वह भेजा गया हैं। तीनों लोकों में जो भी श्रेष्ठ रत्न हैं वे सभी शुम्भ के अधिकार में हैं–

"त्रैलोक्ये वररत्नानि मम वश्यान्यशेषतः।"[2]

शुम्भ ने सुग्रीव के माध्यम से यह निवेदन किया है कि "हे चंचल अपांगो वाली! तुम मेरी या मेरे महापराक्रमी भाई निशुम्भ की सेवा में आ जाओ। हम लोग तुम्हें संसार की स्त्रियों में रत्नस्वरूपा मानते हैं अतः तुम हमारे पास आओं क्योंकि रत्नों का उपभोग करने वाले हम ही हैं–

"स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि लोके मन्यामहे वयम्।
सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम्।।"[3]

शुम्भ और निशुम्भ मात्र असुर नहीं, ये प्रतिनिधित्व करते हैं एक जाति का, विशिष्ट मनोवृत्ति वाले एक समुदाय का, असुरत्व से अभिहित होने वाली एक प्रवृत्ति का। संसार में जो मनोहर, जो मनोरम, आद्य, विशिष्ट लगा–सबको हस्तगत करने की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति शनैः–शनैः मस्तिष्क को इस तरह संकुचित करती जाती है कि "हम और हम ही रत्नोपभोक्ता हैं" यह धारणा विश्वास में रूपान्तरित हो जाती है फिर सुवर्णपुष्पा पृथ्वी का उपभोग मात्र बलाश्रित हो जाता है। बल प्रयुक्तता और शूरता में भिन्नता होती है। शूरता में जहाँ मूल्य का भी भान होना है वहीं बल प्रयोग हमारे दम्भ और अहंकार का तोष है। रत्न मूल्यवत्ता और उत्कृष्टता का उपलक्षण है– "जातौ–जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते। आतंकवाद और साम्राज्यवाद इस मनोवृत्ति के ही प्रतिफल हैं। स्वयं शुम्भ ने अपने कोश का परिचय दिया है कि देवताओं, गन्धर्वो और नागों के पास जितने रत्नभूत पदार्थ हैं वे सभी उसके अधिकार में हैं।[4] या तो स्वयं देवताओं ने प्रतिपत्तिपूर्वक समर्पित किये या इन्होंने बलपूर्वक अपहृत कर लिया परन्तु बात इतनी ही है कि रत्न का अधिकार चूँकि मात्र इनका है अतः कहीं अन्यत्र किसी और के पास रत्न रह ही नहीं सकता। ये 'रत्न भुक्' जाति के है, इनके दूत विचरण करते है और समाज में जहाँ कहीं भी उन्हें रत्न दिखलाई पड़ता है उसकी सूचना अपने स्वामी को देते हैं फिर रत्न को तो 'रत्न भुक्' जाति के पास येन केन प्रकारेण आना ही है।

प्रकृति और समाज प्रत्येक जीवधारी को अपने–अपने ढंग से नियंत्रित करने हैं और जीवन के लिये संघर्ष में हर एक को तदनुसार प्रतिरोधक क्षमता का उन्नयन (इम्यूनिटी डेवलप) करना होता है। देवी के इन तीन चरित्रों के माध्यम से इस 'रत्न भुक्' जाति के भी प्रतिरोधक क्षमता उन्नयन (इम्यूनिटी डेवलपमेन्ट) के तीन स्तर हैं; प्रथम में किन्ही बाह्य शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा नहीं हुई

"देवी के इन तीन चरित्रों के माध्यम से इस 'रत्न भुक्' जाति के भी प्रतिरोधक क्षमता उन्नयन (इम्यूनिटी डेवलपमेन्ट) के तीन स्तर हैं; प्रथम में किन्ही बाह्य शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा नहीं हुई केवल बाहुयुद्ध, द्वितीय में समस्त देवताओं के तेजांश के पुंजीभूत विग्रह से महिषासुर मारा गया और तृतीय में व्यक्तिगत संकल्प को सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी गयी है। अप्रतिम रूप की स्वामिनी, सुकुमारी सी प्रतीत होती कौशिकी की यह संकल्प शक्ति थी कि उनके 'हुंकार' मात्र से धूम्रलोचन भस्मसात् हो गया। कौशिकी के कोध्र से कालिका समुद्भूत हुई और उनके मार्ग के विघ्न का अपनोदन करने लगीं।"

केवल बाहुयुद्ध, द्वितीय में समस्त देवताओं के तेजांश के पुंजीभूत विग्रह से महिषासुर मारा गया और तृतीय में व्यक्तिगत संकल्प को सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी गयी है। अप्रतिम रूप की स्वामिनी, सुकुमारी सी प्रतीत होती कौशिकी की यह संकल्प शक्ति थी कि उनके 'हुंकार' मात्र से धूम्रलोचन भस्मसात् हो गया। कौशिकी के क्रोध से कालिका समुद्भूत हुई और उनके मार्ग के विघ्न का अपनोदन करने लगीं। देवी का उत्तर चरित सप्तशती में अधिक विस्तार से निगदित है, पाँचवें अध्याय से लेकर एकादश अध्याय पर्यन्त, सम्भवतः यह उपदेश चरित है, अनुष्ठान का चरित है, संकल्प और क्रिया का चरित है और सामाजिक प्रतिबोध का चरित है, इसलिये इसे इतने विस्तार से निरूपित किया गया हैं। धूम्रलोचन, चण्ड–मुण्ड, फिर शुम्भ–निशुम्भ इस विस्तृत क्रम की क्या अपेक्षा थी? वस्तुतः महान् संकल्प स्वयं प्रारम्भ किये जाते हैं, मनीषियों के संकल्प की सिद्धता में अन्यों के संकल्प जुड़ते चलते हैं। 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' सिद्धि तो सत्त्व में निहित है, मात्र उपकरण जुटाने में तो शक्ति और समय दोनों का क्षय होता है। चण्डिका सिंह और काली को चारों तरफ से दैत्य सेना से घिरा देखकर ब्रह्मा, शिव, विष्णु, कार्तिकेय, इन्द्र आदि देवों की शक्तियां उसी देवता के रूप वेश–भूषा और वाहन तथा अस्त्रों से संयुक्त हो ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, नारसिंही, ऐन्द्री आदि रूप में उपस्थित हो युद्ध करने लगीं। यह सामाजिक प्रतिबद्धता और सामुदायिक दायित्व बोध का स्वरूप हैं।

किन्तु इन 'रत्न भुजों' का विनाश इतने पर भी नहीं होता क्योंकि इनके पास 'रक्तबीज' है, एक बूँद रक्त में अपने समान पराक्रमशाली को उत्पन्न करने की अदम्य क्षमता। इस तरह एक में स्वयं को सहस्रगुना कर सकने की सामर्थ्य है। इस सामार्थ्य का ही परिणाम है कि यदि एक 'आतंकी' मारा जाता है तो वह भी नहीं मरता (देशभक्त, बलिदानी, अमर आदि घोषित किया जाता है) साथ ही साथ अपने समान बल और शक्ति सम्पन्न हजार आतंकी को उत्पन्न कर देता है। तब क्या सामान्य जन निरूपाय और निस्सहाय हो बैठ जायें ? कैसे पार पायें इन रक्तबीजों से ? यहीं तो दुर्गासप्तशती का वास्तविक अभिप्राय संकेतित किया गया है। चण्डिका ने जब रक्तबीज के अद्भुत चमत्कार को देखा तो काली को आदेश दिया कि वे रक्तबीज के रक्त की बूँद को पृथ्वी पर गिरने ही न दें। संहार हो और रक्त गिरे नहीं यह तो सम्भव नहीं। काली जिसका काल पर नियंत्रण है, काल इसलिये क्योंकि सबको अपनी जिह्वा में आवेष्टित कर लेती है, जिह्वा जो वाणी का आधार है, वाणी ही वाङ्मय का आधार है। कोई कितना ही उद्धत हो जब रक्त बहता है तो यह रक्त का आकर्षण है कि सहानुभूति उसके प्रति ही हो जाती हैं। सहानुभूति का आस्पद आतंकी न बने इसके लिये अपेक्षित है 'काली' का सन्नद्ध होना। जो काल को (समय को) नियमित करने वाली है उसे तो निरपेक्ष हो लोकसंग्रहार्थ सहानुभूति का आस्पद 'सत्य' को बनाना होगा, 'रत्नभुज्' को नहीं। यहीं शक्ति के साथ वाणी के सान्निध्य की अपेक्षा है। शक्ति और वाणी का यह सानिध्य ही किसी समाज को सही दिशा में सम्यक् प्रकार से ले जाने में समर्थ है। यही कारण है कि कालिदास ने भी 'प्रकृति हिताय' (प्रजा के हित के लिये) राजा को जब प्रवर्तित करने की कामना की तब 'सरस्वती श्रुति महती महीयताम्' के द्वारा वाणी के उत्कर्ष की भी अभिलाषा की– इन दोनों का समागम अपरिहार्य है और आज के आतंकवाद के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त आवश्यक अन्यथा ये आतंकी बड़े आराम से जोंक बने हुये समाज के रक्त को शोषण करते हैं और सामाजिक लोकप्रियता के भी आस्पद बने रहते है– इनका सब कुछ करना क्षम्य है क्योंकि ये जात्या 'रत्नभुज' है। इनका तो उद्घोषण ही है –

''यतो रत्नभुजो वयम्''

''एक में स्वयं को सहस्रगुना कर सकने की सामर्थ्य है। इस सामार्थ्य का ही परिणाम है कि यदि एक 'आतंकी' मारा जाता है तो वह भी नहीं मरता (देशभक्त, बलिदानी, अमर आदि घोषित किया जाता है) साथ ही साथ अपने समान बल और शक्ति सम्पन्न हजार आतंकी को उत्पन्न कर देता है। तब क्या सामान्य जन निरूपाय और निस्सहाय हो बैठ जायें? कैसे पार पायें इन रक्तबीजों से? यहीं तो दुर्गासप्तशती का वास्तविक अभिप्राय संकेतित किया गया है।''

सन्दर्भ–

1. श्री दुर्गासप्तशती, 5–91–92
2. श्री दुर्गासप्तशती, 5–109
3. श्री दुर्गासप्तशती, 5–112
4. श्री दुर्गासप्तशती, 5–111

●●●●

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महादेवी वर्मा का स्त्री चिन्तन

डॉ. मीनू अवस्थी*

''कल की नारी अपने तमाम पिछड़ेपन के बावजूद एक व्यक्ति होती थी और आज की नारी अपने तमाम बड़बोले दावों, प्रगति के बावजूद मात्र व्यंजन होकर रह गई है। वह एक भेड़चाल का महज हिस्सा है.... कैबरे से लेकर बीड़ी-साबुन और ब्लेड तौलिया के विज्ञापनों तक में आज की नारी स्वयं को, अपनी देह-यष्टि को, अपनी गोलाइयों, अपनी चितवन-मुस्कान को व्यंजन की तरह इस प्रकार परोस रही है कि स्वयं एक व्यंजन मात्र बनकर रह गई है।''

'स्त्री विमर्श' पर मुझे अनेक महिला साहित्यकारों को सुनने का, पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। वर्तमान में अधिकांश स्त्री लेखन 'सहानुभूति और स्वानुभूति' के नाम पर उन्मुक्त देह संबंधों का साहित्य रच रहा है। ऐसे में मेरी दृष्टि महीयसी महादेवी वर्मा के चिन्तन की ओर जाती है विशेषकर उनकी 'श्रृंखला की कड़ियाँ' इसमें नारी जीवन को श्रृंखला में बाँधने वाली कड़ियों की पहचान ही नहीं अपितु उनसे मुक्ति के उपाय पर भी उन्होंने विचार किया है। नारी जागरण का ये रूप चाहे उनकी कविता 'जाग तुझको दूर जाना' में हो या 'श्रृंखला की कड़ियाँ' का समर्पण– ''जन्म से अभिशप्त, जीवन से सन्तप्त किन्तु अक्षय वात्सल्य; वरदानमयी भारतीय नारी को'' में देखने को मिलता है। एक साक्षात्कार प्रश्न ''आज की नारी की प्रगति के बारे में आपकी धारणा...''? के उत्तर में उन्होंने कहा है– ''कल की नारी अपने तमाम पिछड़ेपन के बावजूद एक व्यक्ति होती थी। और आज की नारी अपने तमाम बड़बोले दावों, प्रगति के बावजूद मात्र व्यंजन होकर रह गई है वह एक भेड़चाल का महज हिस्सा है.... कैबरे से लेकर बीड़ी–साबुन और ब्लेड तौलिया के विज्ञापनों तक में आज की नारी स्वयं को, अपनी देह–यष्टि को, अपनी गोलाइयों, अपनी चितवन–मुस्कान को व्यंजन की तरह इस प्रकार परोस रही है कि स्वयं एक व्यंजन मात्र बनकर रह गई है। मुजरे में नारी को परोसना और इस प्रकार परोसे जाने में मूलतः कहाँ अंतर है? वह एक निहायत गलत प्रतियोगिता की अंधी दौड़ में फंस गई है। एक कुचक्र की भंवर में उसे कुछ सूझ नहीं रहा है। वह तो जननी है, पुरूष मात्र की जननी है। अपनी संतान से स्पर्धा कैसी? सौंदर्य की ग्रीक देवी वीनस सुवर्ण सेव पाने के लिए अपनी बेटी मिनर्वा के साथ सौंदर्य प्रतियोगिता में उतर जाती है यह वही पश्चिमी व्याधि है। वह जननी के गौरवमय पद से स्खलित होकर गरिमाहीन हो गई है।''?

विमर्शों के आधार पर साहित्य में जो प्रायोजित कार्यक्रमों का दौर चल रहा है उसमें महादेवी वर्मा का स्त्री चिन्तन, जो विनम्र विद्रोह है सोचने के लिए विवश करता हैं। 'निराला' ने उनके इसी गुण के संदर्भ में लिखा है–

''दिए व्यंग्य के उत्तर रचनाओं से रचकर
विदुषी रहीं विदूषक के समक्ष तुम तनकर''

प्रो. नामवर सिंह ने 'महादेवी वर्माः वेदना और विद्रोह' विषयक संगोष्ठी में अपने बीज वक्तव्य में कहा–''उन्होंने अकेलेपन को स्वीकार किया। उनकी लेखनी या जीवन पुरुष विरोधी नहीं था उन्होंने साहित्य की लम्बी श्रृंखला लिखी। उनका साहित्य तो ममता की निर्झरणी है।'' 'श्रृंखला की कड़ियाँ' महादेवी के स्त्री चिन्तन की गम्भीरता को व्यक्त करता है उसमें 'स्त्री विमर्श' के नाम पर 'हाय–तौबा' नहीं अपितु हृदय को झकझोर देने वाले विचार हैं। 'अपनी बात' में वे लिखती हैं– ''प्रस्तुत संग्रह में कुछ ऐसे निबन्ध जा रहे हैं जिनमें मैंने भारतीय नारी की विषम परिस्थितियों को अनेक दृष्टि–बिन्दुओं से देखने का प्रयास किया है। अन्याय के प्रति मैं स्वभाव से असहिष्णु हूँ अतः इन निबन्धों में उग्रता की गंध स्वाभाविक है, परन्तु ध्वंस के लिए ध्वंस के सिद्वान्त में मेरा कभी विश्वास नहीं रहा। मैं तो सृजन के उन प्रकाश–तत्वों के प्रति निष्ठावान हूँ जिनकी उपस्थिति में विकृति अन्धकार के समान विलीन हो जाती है। जब तक प्रकृति व्यक्त नहीं होती तब तक विकृति के ध्वंस में अपनी शक्तियों को उलझा देना वैसा ही है जैसा प्रकाश के अभाव में अंधेरे को दूध से धो–कर सफेद करने का प्रयास। वास्तव में अन्धकार स्वयं कुछ न होकर आलोक का अभाव है। इसी से तो छोटा–से–छोटा दीपक भी उसकी सघनता नष्ट कर देने में समर्थ है।

भारतीय नारी भी जिस दिन अपने सम्पूर्ण प्राणप्रवेग से जाग सके; उसकी गति रोकना किसी के लिए सम्भव नहीं। उसके अधिकारों के सम्बन्ध मे यह सत्य है कि वे भिक्षावृत्ति से न मिले हैं न मिलेंगे, क्योंकि उनकी स्थिति आदान–प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है। समाज में व्यक्ति का सहयोग और विकास की दिशा में उसका उपयोग ही उसके अधिकार निश्चित करता रहता है और इस प्रकार, हमारे अधिकार, हमारी शक्ति और विवेक के सापेक्ष रहेंगे। यह

कथन सुनने में चाहे बहुत व्यावहारिक न लगे परन्तु इसका प्रयोग निर्भ्रान्त सत्य सिद्व होगा। अनेक बार नारी की वाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन की ओर ध्यान न देकर मैं उसकी शक्तियों को जाग्रत करके परिस्थितियों में साम्य लाने वाली सफलता सम्भव कर सकी हूँ। समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहाँ उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं असाधरण विद्रोह है, परन्तु सन्तुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।

आत्मरति के मदहोश स्वप्न से जागकर 'स्त्री विमर्श रचनाकार' सही मायनों में 'स्त्री विमर्श' पर चिंतन करें तो उन्हें प्रतीत होगा कि 'यौन स्वातंत्र्य' से अधिक 'आर्थिक स्वातंत्र्य 'स्वावलम्बन' की स्त्री को आवश्यकता है।

'श्रृंखला की कड़ियाँ' महादेवी वर्मा का चर्चित निबन्ध–संकलन है। इन निबन्धों की रचना तब हुई जब महादेवी वर्मा 'चाँद' मासिक पत्रिका की संपादक थीं। इसमें सन् 1931 से 1936 की अवधि में लिखें गए ग्यारह निबन्ध संकलित हैं– हमारी श्रृंखला की कड़ियाँ, युद्व और नारी, नारीत्व का अभिशाप, आधुनिक नारी, घर और बाहर,, हिन्दू स्त्री का पत्नीत्व, जीवन का व्यवसाय, स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न, हमारी समस्याएँ, समाज और व्यक्ति, जीने की कला। इन लेखों में महादेवी ने नारी जीवन से जुड़े जटिल प्रश्नों पर बेबाक तरीके से अपने विचार रखे हैं–

''इस समय हमारे समाज में केवल दो प्रकार की स्त्रियाँ मिलेंगी– एक वे जिन्हें इसका ज्ञान ही नहीं है कि वे भी एक विस्तृत मानव–समुदाय की सदस्य हैं और उनका भी एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्तित्व है जिसके विकास से समाज का उत्कर्ष और संकीर्णता से अपकर्ष सम्भव है; दूसरी वे जो पुरुषों की समता करने के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से संसार को देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुकरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती है। सारांश यह कि एक ओर अर्थ–हीन अनुसरण है तो दूसरी ओर अनर्थमय अनुकरण और यह दोनों प्रयत्न समाज की श्रृंखला को शिथिल तथा व्यक्तिगत बन्धनों को सुदृढ़ ओर संकुचित करते जा रहे हैं।

वर्तमान स्त्री लेखन के बारे में राजेन्द्र सिंह गहलौत लिखते हैं– ''आधुनिक नारी का यह जीवन दर्शन, परिवार, विवाह को समाप्त करता एवं यौन स्वातंत्र्य के नाम पर उन्मुक्त देह सम्बन्ध की हिमायत करता हुआ प्रतीत होता है तथा वर्तमान साहित्य में सृजित 'देहवादी स्त्री विमर्श' का यह साहित्य समाज को जिस मुकाम पर पहुँचाना चाहता है वहाँ उसे लांछित करने में अश्लील गालियाँ भी अपने आप को असमर्थ पायेंगी तथा अनैतिक देह संबंध लांछित न होकर सम्मानित होते नजर आयेंगे। लेकिन वर्तमान साहित्य में चित्रित यह स्त्री विमर्श क्या स्त्री को महज एक शरीर मानता हुआ सा नजर नहीं आता? क्या स्त्री सिर्फ एक शरीर है? क्या आदिम युग से अब तक स्त्री जुड़ी समस्यायें सिर्फ एक तन की स्वेच्छा या बलात्कार से भोग की है? आत्मरति के मदहोश स्वप्न से जागकर 'स्त्री विमर्श रचनाकार' सही मायनों में 'स्त्री विमर्श' पर चिंतन करें तो उन्हें प्रतीत होगा कि 'यौन स्वातंत्र्य' से अधिक 'आर्थिक स्वातंत्र्य 'स्वावलम्बन' की स्त्री को आवश्यकता है। महादेवी वर्मा ने 'स्त्री विमर्श' के संदर्भ में पूरी स्पष्टता के साथ 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न', 'आधुनिक नारी' पर अपने चिंतन को स्पष्ट करती हैं– ''जीवन में विकास के लिए दूसरों से सहायता लेना बुरा नहीं, परन्तु किसी को सहायता दे सकने की क्षमता न रखना अभिशाप है। सहयात्री कह कर अपना उपहास नहीं करा सकता। भारतीय पुरूष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया या भार रूप,में, फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका।'' महादेवी वर्मा के स्त्री चिंतन में महत्त्वपूर्ण बिन्दु केन्द्र में रहे हैं उनका चिंतन 'देह विमर्श' के नाम पर नर और मादा का नहीं है। स्त्री की पीड़ा को उन्होंने जितना करीब से महसूस किया और उसके बारे में उनकी लेखनी जो चली है वह चकित है वह चकित कर देने वाली हैं।

''लेखिका ने समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक या नारी शास्त्र के विद्वानों की तरह नारी संबंधी समस्याओं को केवल किताबी और उपरी ज्ञान को नहीं बटोरा है और न उसका उन्होंने डेटा या सांख्यिकी ग्राफ ही उपस्थित किया है। नारी की घोर परवशता के चित्र खींचकर उन्होंने वास्तविकता को यथातथ्य रूप में प्रकट करने का प्रयास किया है।'' महादेवी वर्मा ने जहाँ एक ओर स्त्रियों के कारुणिक और मर्मस्पर्शी चित्र खींचे वहीं दूसरी ओर उन समस्त समस्याओं का हल भी प्रस्तुत किया–

''जो जाग चुका है वह अधिक समय तक सोते हुए का अभिनय नही'' करता रह सकता। हमारी जाग्रत बहिनों में से कुछ ने विद्रोह आरम्भ कर दिया है और कुछ उसके लिए सुयोग ढूँढ़ रही हैं। जो देश के भावी नागरिकों की विधाता हैं, उनकी प्रथम और परम गुरू हैं, जो जन्म भर अपने आपको मिटाकर, दूसरों को बनाती रहती हैं वे केवल तभी तक आदरहीन मातृत्व तथा अधिकार–शून्य पत्नीत्व स्वीकार करती रह सकेगी, जब तक उन्हें अपनी शक्तियों का बोध नहीं होता। बोध होने पर वे बन्दिनी बनाने वाली श्रृंखलाओं को स्वयं तोड़ फेकेंगी। आज जब 'स्त्री विमर्श' पर स्वानुभूति के नाम पर लिखा जा रहा है ऐसे में महादेवी के 'स्त्री चिन्तन' के पुनर्पाठ की आवश्यकता बढ़ जाती है।

●●●●

*प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
बसंत महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी

पुस्तक अंश

महामना मालवीयजी और उनकी अमर कृति

एस. सोमस्कन्दन्*

शिलान्यास उत्सव में सम्मिलित होने के लिए भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से अनेक महानुभाव काशी आये थे। हिन्दू, मुसलमान, इसाई, देश सेवक, विभिन्न स्कूलों और कॉलेजों से चुने गये छात्रगण भी इस महोत्सव में सम्मिलित हुए थे। सम्भवतः ब्रिटिश भारत में ऐसा सुन्दर दृश्य कभी न दिखाई दिया होगा। समस्त भारत की जनता के पूर्ण सहयोग से, जनता की सेवा के लिए जनता द्वारा ही संचालित होने वाला एक अखिल भारतीय आवासीय विश्वविद्यालय का शिलान्यास होने वाला था। अतः सर्वत्र आनन्द का ही वातावरण था। महोत्सव-मण्डप में जाने के लिए पाँच ढंग के टिकट थे-सफेद, नीले, पीले, हरे और लाल। लाल रंग का टिकट महिलाओं के लिए था। सारी योजना मालवीयजी के नेतृत्व में सोच-समझकर बनायी गयी थी।

.....भारतवर्ष के सभी मुख्य नगरों में धनसंग्रह कार्य को सफलतापूर्वक चलाने के लिए शिष्ट–मण्डल संगठित किये गये। 'हिन्दू यूनिवर्सिटी मूवमेंट' एक देशव्यापी आन्दोलन बन गया। कश्मीर से कन्याकुमारी तक, गुजरात से आसाम तक भारत के प्राचीन गौरव का पुनरूत्थान करने के लिए लोगों में जागृति आ गयी। वास्तव में यह आन्दोलन स्वतंत्रता संगाम का एक अंग बन गया जिसका नेतृत्व कर रहे थे महान् तपस्वी, परम देशभक्त, वाग्मी मदन मोहन मालवीयजी। देश के सभी महाराजा, राजा, धनवान्, निर्धन, भिखारी सभी लोगों ने इस महायज्ञ में भाग लिया और तन, मन, धन, से यथाशक्ति दान दिया। सर्वत्र भारतमाता की जय, वन्दे मातरम् के गगनचुंबी नाद से आकाश गूंज रहा था।

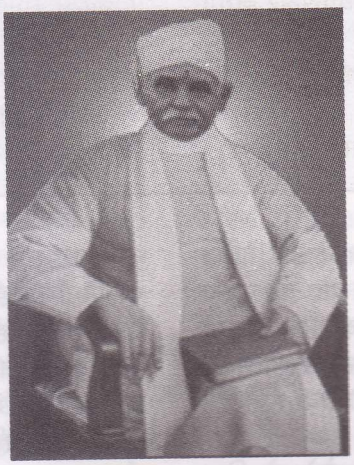

विश्वविद्यालय के लिए भारत सरकार की मान्यता, निम्नलिखित शर्तों को पूर्ण करने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकती थीः–

1. काशी में विश्वविद्यालय के लिए एक उपयुक्त स्थान की प्राप्ति हो जाय;
2. सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, विश्वविद्यालय को हस्तांतरित हो जाय;
3. पचास लाख रूपये की स्थायी आरक्षित निधि हो जाय;
4. निर्धारित नीति पर संविधान बन जाय; और एक समिति की रिपोर्ट पर यह निश्चित हो जाय कि सेन्ट्रल हिन्दू कालेज को एक आवासीय एवं शिक्षण विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया जा सकता है।

इन सभी विषयों पर तेजी से प्रगति हो रहा थी। मालवीयजी और हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी के कुछ अन्य सदस्यों ने विश्वविद्यालय के लिए उपयुक्त पाँच स्थानों को देखा। सर हारकोर्ट बटलर, संयुक्त प्रान्त के गवर्नर जेम्स मेस्टन और भारत सरकार के शिक्षा विभाग के सचिव मिस्टर शार्प ने 27 जुलाई 1914 को इन पाँचों स्थानों का निरीक्षण किया और अन्त में निर्णय किया गया कि नगवा में देखी गयी भूमि ही विश्वविद्यालय के लिए सर्वोत्तम होगी। इस भूमि को संगृहीत करने के लिए आवश्यक कार्यवाही अवलम्ब कर दी गयी।

4 मई सन् 1913 को सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के ट्रस्टियों ने निश्चय किया कि सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्रबन्ध को यथाशीघ्र हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी को सुपुर्द कर दिया जाय। एतदर्थ आवश्यक कानूनी कार्यवाहियों को पूर्ण करने में बहुत समय लगा। सब औपचारिकताएँ पूरी होने के बाद 27 नवम्बर 1914 को सेन्ट्रल हिन्दू कालेज एसोसियेशन को हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी में मिला दिया गया। फलतः सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल और रणवीर संस्कृत पाठशाला हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी के अंग बन गये।

उसके बाद विश्वविद्यालय के संविधान के बारे में हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी में विस्तृत चर्चा हुई और अन्त में 22 मार्च 1915 को सर हारकोर्ट बटलर ने इम्पीरियल बिल लेजिस्लेटिव कौंसिल (विधान सभा) में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल प्रस्तुत किया। विधान सभा में विचार–विमर्श होने के बाद 1 अक्टूबर 1915 को यह बिल पास हो गया और कानून बन गया। अवसर पर विधान सभा में बोलते हुए मालवीयजी ने कहा–

ज्योति और जीवन का यह केन्द्र जो अस्तित्व में

आ रहा है, उन विद्यार्थियों को तैयार करेगा जो ज्ञान में संसार के दूसरे भागों के विद्यार्थियों के समान ही नहीं होंगे, वरन् उत्तम जीवन बिताने में, ईश्वर–भक्ति, देश–प्रेम तथा सम्राट् के प्रति निष्ठा में भी प्रशिक्षित होंगे।

वाइसराय लार्ड हार्डिंग का बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल पास कराने में बड़ा सहयोग था। वे 1910 से भारतवर्ष के गवर्नर–जनरल एवं वाइसराय थे। उनका कार्यकाल 31 मार्च 1916 को समाप्त होने वाला था। मालवीयजी चाहते थे कि विश्वविद्यालय का शिलान्यास उन्हीं से कराया जाय। शिलान्यास के लिए 8 फरवरी 1916 वसन्त पंचमी के दिन मुहूर्त देखा गया परन्तु लार्ड हार्डिंग उस दिन नहीं आ सकते थे। अतः 4 फरवरी 1916 को शिलान्यास का मुहूर्त निश्चित हुआ। बड़ी तैयारियँ हुई। शिलान्यास के लिए आवश्यक भूखण्ड को तुरन्त अधिकृत किया गया। एक सुन्दर छोटे नगर के रूप में उसे सुसज्जित किया गया। एक यज्ञशाला महारूद्रयज्ञ के लिए बनायी गयी। वास्तु पूजा, गायत्री जप, वेद पाठ इत्यादि के लिए भी अलग–अलग मण्डप वितान बनाये गये। गुरूग्रंथ साहब की पूजा और पाठ के लिए एक विशेष मण्डप निर्मित हुआ। उसी प्रकार जैन मत के अनुसार पूजा पाठ का प्रबन्ध हुआ। महारूद्र यज्ञ और अन्य सभी धार्मिक कार्यक्रम वसन्त पंचमी के पन्द्रह दिन पूर्व ही (अर्थात् उत्तरायण होते ही) प्रारम्भ हो गये और 8 फरवरी वसन्त पंचमी तक होते है। वसन्त पंचमी को ही यज्ञ की पूर्णाहुति हुई।

शिलान्यास उत्सव में सम्मिलित होने के लिए भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से अनेक महानुभाव काशी आये थे। हिन्दू, मुसलमान, इसाई, देश सेवक, विभिन्न स्कूलों और कॉलेजों से चुने गये छात्रगण भी इस महोत्सव में सम्मिलित हुए थे। सम्भवतः ब्रिटिश भारत में ऐसा सुन्दर दृश्य कभी न दिखाई दिया होगा। समस्त भारत की जनता के पूर्ण सहयोग से, जनता की सेवा के लिए जनता द्वारा ही संचालित होने वाला एक अखिल भारतीय आवासी विश्वविद्यालय का शिलान्यास होने वाला था। अतः सर्वत्र आनन्द का ही वातावरण था। महोत्सव–मण्डप में जाने के लिए पाँच ढंग के टिकट थे–सफेद, नीले, पीले, हरे और लाल। लाल रंग का टिकट महिलाओं के लिए था। सारी योजना मालवीयजी के नेतृत्व में सोच–समझकर बनायी गयी थी।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी एक्ट (एक्ट ऑफ 1915), 1 अक्टूबर 1915 का पास हो गया था परन्तु लागू नहीं हुआ था। सेवा–निवृत्त होने के पूर्व ही 23 मार्च 1916 को लार्ड हार्डिंग ने आदेश दे दिया कि यह एक्ट 1 अप्रैल 1916 से लागू होगा। इस एक्ट के अनुसार–

भारत के गवर्नर जनरल विश्वविद्यालय के लार्ड रेक्टर बने।
संयुक्त प्रान्त लेफटनेन्ट गवर्नर विश्वविद्यालय के विजिटर बने।
(1) विश्वविद्यालय के संविधि (statute) के अन्तर्गत–
(a) भारत के 14 प्रान्तों के शासक (गवर्नर या लेफिटनेन्ट गवर्नर या चीफ कमिश्नर) विश्वविद्यालय के संरक्षक (Patron) बने।
(b) भारत के चौदह देशी राज्यों के महाराजा/राजा भी विश्वविद्यालय के संरक्षक (patron) बने।
(2) महाराज दरभंगा विश्वविद्यालय के उपसंरक्षक नियुक्त हुए।
1 अप्रैल 1916 को एक अधिसूचना द्वारा घोषित किया कि–

1. मैसूर के महाराजा कृष्णराज वाडियार विश्वविद्यालय के प्रथम चान्सलर होंगे।
2. डा. सुन्दरलाल के महाराजा माधवराव सिंधिया विश्वविद्यालय के प्रथम प्रो. चान्सलर होंगे।
3. डा. सुन्दरलाल विश्वविद्यालय के प्रथम वाइस–चान्सलर होंगे।

4 फरवरी 1916 शुक्रवार– साढ़े ग्यारह बजे तक सभी लोग अपनी–अपनी जगह पर बैठ गये। वाइसराय महोदय ठीक बारह बजे सभा मण्डप में पधारे। सर्वप्रथम राष्ट्रीय गान हुआ। तत्पश्चात् सेन्ट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय की बालिकाओं ने गणपति और सरस्वती देवी की स्तुति की। तब महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री ने कार्य की सफलता के लिए स्वस्ति–वाचन किया। उसके बाद हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी के अध्यक्ष महाराज दरभंगा ने अपना भाषण पढ़ा और वाइसराय एवं गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग से शिलान्यास करने की प्रार्थना की। वाइसराय लॉर्ड हार्डिंग का भाषण अत्यन्त सारगर्भित था जिसमें उन्होंने कहा– "धार्मिक शिक्षा की नींव तथा धार्मिक वातावरण के संतुलित प्रभाव के बिना, मानसिक और नैतिक संयम सम्भव नहीं है। केवल प्राध्यापकों के आदर्श जीवन और उपदेश इसमें सफल नहीं हो सकते हैं। खिसकती हुई रेत पर निर्माण नहीं हो सकता। मेरा अपना दृढ़ विश्वास है कि धर्म–शिक्षा विहीन शिक्षा निरर्थक है।"

अपना भाषण समाप्त करने के पश्चात् वाइसराय लॉर्ड हार्डिंग मध्यस्थ मंच की ओर गये और नन्हीं–नन्हीं बालिकाओं की पुष्प वर्षा के बीच उन्होंने शिलान्यास संस्कार सम्पन्न किया। शिलान्यास स्थल के उपर लगे संगमरमर पर उत्कीर्ण हुआ था–

शिलान्यास के बाद चार दिनों तक अर्थात् वसन्तपंचमी तक शिलान्यास स्थल पर पूजा–पाठ का कार्यक्रम यथावत् चलता रहा। वसन्त पंचमी को ही पूर्णाहुति हुई। इस बीच, चारों दिनों में (5 फरवरी से 8 फरवरी तक कमच्छा स्थित सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के काशी नरेश हाल में विद्वानों का व्याख्यान चलता रहा।

वसन्त पंचमी को पूर्णाहुति होने के कारण विश्वविद्यालय में शिलान्यास दिवस प्रतिवर्ष वसन्त पंचमी को ही मनाया जाता है। पूज्य मालवीयजी के समय में सभी अध्यापक और विद्यार्थी उस दिन वसन्ती रंग के वस्त्र पहनकर जुलूस में शिलान्यास–स्थान जाते थे। जुलूस

लम्बा होता था। उसमें हर एक कालेज की झाँकी भी होती थी। शिलान्यास स्थान पर प्रातः काल से ही हवन, पूजा आदि का कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता था। जुलूस के वहाँ पहुँचने के पश्चात् पूर्णाहुति होती थी, भाषण आदि होते थे, प्रसाद वितरण भी होता था।

विश्वविद्यालय के कोर्ट– सर्वोच्च शासी निकाय (Supreme Governing Body) का भी संघटन हो गया और उसकी पहली बैठक 12 अगस्त 1916 को दिन में 12 बजे अभिजित मुहूर्त में प्रारम्भ हुई।

कोर्ट के लिए सदस्यों का निर्वाचन एवं कार्यकारिणी समिति (Council) का निर्वाचन दोनों सम्पन्न हुए। उसके साथ ही विश्वविद्यालय के शासकीय कार्य आरम्भ हो गये।

शिक्षण कार्य के लिए कुछ औपचारिक आवश्यकताओं को पूरा करना था। सभी आवश्यकताएँ कालक्रम से पूरी हो गयीं। तदनन्तर भारत के गवर्नर जनरल एवं वाइसराय ने एक अधिसूचना द्वारा घोषित कर दिया कि पहली अक्टूबर 1917 से सेन्ट्रल हिन्दू कालेज विश्वविद्यालय का कालेज माना जायेगा। उस समय सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का शिक्षण कार्य कमच्छा में स्थित भवनों में ही चल रहा था।

विश्वविद्यालय के लिए नगवा में भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही चल रही थी। 1215.53 एकड़ भूमि मिलनी थी। उसके लिए विश्वविद्यालय ने छः लाख रूपये राजकोष में जमा भी कर दी थी। सारी कार्यवाही पूरी होने के बाद 27 जनवरी 1917 को पूरी भूमि विश्वविद्यालय के कब्जे में आ गयी। संयुक्त प्रान्त सरकार के परामर्शी वास्तुकार फ्रैंक लिशमैन से विश्वविद्यालय का ले–आउट प्लैन बनाने के लिए कहा गया। विश्वविद्यालय के भवन निर्माण कार्य के लिए संयुक्त प्रान्त सरकार में कार्यरत एक कर्मठ इंजीनियर ज्वाला प्रसाद जी की सेवायें विश्वविद्यालय को उपलब्ध हो गयी थीं। 17 दिसम्बर 1916 को उन्होंने विश्वविद्यालय में Superintendent of works का पद भार ग्रहण कर लिया था। 12 अगस्त 1916 को विश्वविद्यालय के कोर्ट और कार्यकारिणी समिति के निर्वाचित सदस्य लाहौर के प्रसिद्ध इंजीनियर गंगारामजी Honorary Chief Engineer के रूप में विश्वविद्यालय की सेवा करने के लिए कमर कसकर खड़े हो गये।

मालवीयजी की परिकल्पना के अनुसार ले–आउट प्लैन बना और जुलाई 1918 में नगवा परिसर में भवन निर्माण का कार्य आरम्भ हो गया। गंगारामजी और ज्वाला प्रसाद जी के अथक प्रयत्न से तीन वर्ष के भीतर ही सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के लिए तीन भवन, आर्टस् कालेज, फिजिक्स् लेबरेटरी और केमिकल लेबोरेटरी तैयार हो गये। (इंजीनियरिंग कालेज के लिए भवन, वर्कशाप, पावर हाउस आदि उसके पूर्व ही बन गये थे और वहाँ शिक्षण कार्य भी आरम्भ हो गया था।) तीन बड़े छात्रावास और शिक्षकों तथा कर्मचारियों के लिए आवास भी तैयार हो गये।

जुलाई 1921 में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का नूतन गृह प्रवेश हो गया। कमच्छा भवनों में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल, रणवीर संस्कृत पाठशाला और टीचर्स ट्रेनिंग कालेज चलने लगे।

प्राच्य विद्या कालेज और धर्मविज्ञान कालेज और विश्वविद्यालय कार्यालय आर्टस् कालेज के भवन में स्थापित हुए। धीरे–धीरे अन्य विद्यालयों को भी खोला गया। लॉ कालेज की स्थापना 1923 में हुई। आयुर्वेद कालेज की स्थापना 1928 में हुई। उसके पूर्व ही सर सुन्दरलाल अस्पताल में चिकित्सा कार्य प्रारम्भ हो गया था। महिला महाविद्यालय और छात्रावास 1928–29 में अस्तित्व में आये। कृषि अनुसंधान प्रतिष्ठान 1929 से कार्य करने लगा। उसी वर्ष सयाजीराव गायकवाड़ पुस्तकालय का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। जनता का विश्वविद्यालय होने के कारण, जनता की आकांक्षा और देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए पूज्य मालवीयजी कार्य कर रहे थे। इस बीच उन्हें देश के अन्य कार्यों को भी देखना पड़ता था। कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में दिसम्बर 1918 में होने वाला था। मालवीयजी इस अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुने गये थे। अगले वर्ष अर्थात् सन् 1919 के अन्त तक उन्हें कांग्रेस के अध्यक्ष का भार संभालना था। अगले वर्ष अर्थात् 13 अप्रैल 1919 को जलियॉवाला बाग काण्ड हुआ जिसके कारण भारत की राजनीतिक स्थिति बिल्कुल बदल गयी। पूरे वर्ष मालवीयजी उसमें व्यस्त थे। गोलीकाण्ड की जाँच तथा मृतकों एवं कैदियों के परिवारों की सहायता में उन्होंने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किये। उसके बाद असहयोग आन्दोलन आरंभ हो गया, साथ में सरकार की दमन–नीति भी।

इसके अतिरिक्त एक और समस्या देश के सम्मुख आ गयी। सन् 1929 में व्यापार में घोर मंदी छा जाने के कारण यूरोप और अमेरिका की आर्थिक स्थिति डगमगा गयी। ब्रिटेन सबसे अधिक आहत हुआ; उसे पौण्ड का अवमूल्यन करना पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने के कारण भारत पर उसका भार पड़ना सहज ही था। भारत सरकार को अपने खर्च में कटौती करनी पड़ी। आमदनी में कमी हो जाने के कारण भारतवर्ष के उद्योगपति एवं व्यापारी, धर्मार्थ और लोककल्याण कार्यो के लिए पहले की तरह उदार होकर खर्च करने में असमर्थ हो गये।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को भी खर्च में कटौती करनी पड़ी। यहाँ तक कि अध्यापकों के वेतन में भी कमी की गयी। इन सब कठिनाइयों के होते हुए विश्वविद्यालय को उन्नति के मार्ग पर लगातार आगे बढ़ाते ले जाना कोई साधारण कार्य नहीं था। पूज्य मालवीयजी ही इस कार्य को करने में सक्षम थे और वे इसे सफलातापूर्वक करते रहे। इतना अवश्य था कि विश्वविद्यालय के सभी अध्यापक, अधिकारी, कर्मचारी और सेवक समर्पित भाव से, त्याग बुद्धि से, अपने कर्तव्यों का पालन करते थे।

●●●●

भूतपूर्व उपकुलसचिव (प्रशासन) का0हि0वि0,वि0, की पुस्तक "महामना मालवीयजी और उनकी अमर कृति" से साभार।

आर्ष ज्ञान-विज्ञान की दुर्लभ प्रस्तुति

अनूप पति तिवारी

यह पुस्तक भौतिक ज्ञान के विस्तृत फलक को अपने में समेटकर पाठक के अन्दर एक तरफ आत्मसन्तोष और गौरव के भाव को उद्दीप्त करती है तो दूसरी तरफ एक नयी चेतना का संचार करती है कि- 'सारा आधुनिक ज्ञान आयातित नहीं है। हमारी जड़े भी गहरी हैं, हमारे पूर्वज सिर्फ आध्यात्म विद्या के ही अन्वेषक नहीं थे।

यह तो सर्वविदित एवं सुस्पष्ट है कि मानवीय विकास के अभौतिक आयाम और मूल्यबोध, सत्ता एवं संस्कार का उचित समन्वय, समृद्धि एवं संस्कृति का मेल तथा ममता और मुदिता की दृष्टि के बीच भारतीय ज्ञान वैभव की चमक पूरे विश्व में फैली थी। आज दार्शनिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों में भारत के लोगों की चर्चा प्रायः होती है; लेकिन इतिहास गवाह है कि भौतिक, गणित, रसायन नक्षत्र विज्ञान तथा जीवशास्त्र में भी भारतीय विद्या उतनी ही शानदार थी और इन विद्याओं की उस समय अन्यत्र कहीं कोई मिसाल नहीं है।

सम्प्रति समस्या यह है कि आज हमारे पास अपने प्राचीन ऋषि–मुनियों का वैज्ञानिक ज्ञान किसी एक पुस्तक में या किसी पुस्तक श्रृंखला में कहीं एकत्रित नहीं है, जिज्ञासु पाठकों के पास भारतीयों के निजी वैज्ञानिक ज्ञान की तथ्यपरक या विश्लेषित विषय–वस्तु का प्रकाशन 'नही' के बराबर है। यदि है भी तो अल्पमात्रा में। ऐसे में जब हम अपनी नयी पीढ़ी की तर्कबुद्धि से अपनी प्राचीन विरासत की समृद्धि के सम्मान की बात करते हैं तो या वे या स्वयं हमारी तर्कबुद्धि ही अक्सर हमें वैज्ञानिकता के चौराहे पर नंगा कर देती है। ऐसे में अधिकतर लोगों को यही बहाना मिलता है–

"निगाहें रही तो नजारे न थे, नजारे आये तो निगाहें न रहीं।
मैं क्या–क्या अपने बदनसीबियों को कहूँ ऐ आलमा /
पहले किस्ती गयी फिर किनारा न रहा।.....

तमाम ऐतिहासिक, बौद्धिक, दार्शनिक अन्वेषण– श्रम एवं साक्ष्य ने यह तो सिद्ध कर ही दिया है कि भारतीय विद्या समन्वयात्मक रही है; अतः इसका भौतिक विकास एक रेखीय नहीं हुआ। मैं इसके व्याख्या के विस्तार मे गये बिना सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि हमारे विरासत की वैज्ञानिक ज्ञान की पाण्डुलिपियों जो कुछ भी किसी विद्वान या किसी विश्वविद्यालय के पास शेष बची हुई है तथा जीर्ण अवस्था में होने के कारण पठनीय नहीं है। उन ग्रंथों के संरक्षण और प्रकाशन के लिए हम कब तक इन्तजार करेंगे? आज हमें जब पूरी दुनियाँ के बहु–सांस्कृतिक धरातल पर अपनी विशिष्ट पहचान को अक्षुण्ण रखना है तो हमें अपने वैज्ञानिक अतीत के बारे में भी स्पष्ट जानकारी आवश्यक है।

इस क्रम में 'भारतीय विज्ञान वैभव' नामक पुस्तक पिलग्रिम्स प्रकाशन से 2009 में प्रकाशित है; जिसमें डॉ. सुद्युम्न आचार्य जी के प्रधान सम्पादन और दीनानाथ झुनझुनवाला की प्रेरणा और संयोजन से करीब 35 लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों ने भारतीय वैज्ञानिक विद्या की जाँच–पड़ताल की है। यह अति महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि हमें अपने अतीत को विद्या को जानने के लिए संस्कृत भाषा और आधुनिक विज्ञान दोनों पर अधिकार होना आवश्यक है; नहीं तो प्राचीन ज्ञान की वर्तमान सन्दर्भों में वस्तुपरक व्याख्या की समस्या सदैव बनी रहेगी।

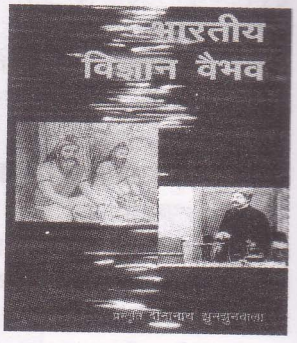

यह शोधपरक पुस्तक मात्र 501 पृष्ठों पर अपने विस्तृत विषयवस्तु को प्रस्तुत करने में 39 अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के लेखक लगभग अलग–अलग है और विषय सामग्री शोधपरक तथा महत्वपूर्ण हैं। शीर्षक का नामकरण आकर्षक होते हुए भी अपने विषयवस्तु से न्याय करने में लगभग सफल है। कहीं–कहीं किसी खोज के काल–निर्धारण का प्रयास बोझिल एवं उबाऊ है। चूँकि प्रत्येक विषयवस्तु को विद्वान लेखको ने अपनी दृष्टि से साक्ष्यों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किये हैं; फलतः हमें किसी तथ्य को प्राप्त करने के लिए लम्बा इतिहास पढ़ना पड़ रहा है।

पुस्तक का पहला लेख है वैदिक विज्ञान। वैदिक विज्ञान लेखक आचार्य दयानन्द भार्गव जी हैं। उन्होंने वेद विज्ञान की समृद्धि को लगभग अप्राप्त बताते हुए कुछ सूत्रों को अभी भी पाये जाने की बात की है इस प्रस्तुत अध्याय में लेखक ने ऐतरेय ऋषि के प्रतिपादन से आईन्सटीन की सिद्धान्त की तुलना करते हुए क्वाण्टम सिद्धान्त तथा वैदिक दैव सिद्धान्त में तुलना की संभावना खोजने का प्रयास किया है।

गणित शास्त्र की उपलब्धियों पर कई शीर्षकों में प्रकाश डाला गया है। 'भारतीय गणित की वैदिक तथा वेदोत्तर परम्परा' नामक शीर्षक के अन्तर्गत– डॉ. नारायण गोपाल डोंगरे एवं डॉ. हृदय रंजन शर्मा ने गणित में प्राचीन मनीषियों की देन को (क) वैदिक भारत, (ख) पूर्व मध्यकालीन भारत तथा (ग) मध्यकालीन भारत के रूप में विभाजित करके भारतीय गणित की खोजों को श्रृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रो. रमेश चन्द्रदास शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'महर्षि बौधायन, कात्यायन एवम् आपस्तम्ब नामक गणितज्ञों के योगदानों का परिचय हमें त्रिकोणमिति में प्राचीन भारतीय ज्ञान की समृद्धि की

ओर संकेत करता है। डॉ. रविशंकर भार्गव ने, भारतीय खगोल विद्या एवं गणितीय क्षेत्र में कमलाकर भट्ट की देन से हमारा परिचय कराया है। पुनः 'महान गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त' का परिचय देते हुए उनकी कृति ब्रह्मस्पुट सिद्धान्त, खण्ड खाद्यक की विषय वस्तु से हमारा परिचय कराया है। इस अध्याय पर सुद्युम्न जी की प्रधान सम्पादकीय टिप्पणी में टॉलमी प्रमेय से ब्रह्मगुप्त प्रमेय की तुलना महत्वपूर्ण है।

वर्तमानकालीन प्रमुख भारतीय गणितज्ञ के कृतित्व एवं व्यक्तित्व से परिचय कराते हुए श्री निवास रामानुजनम के सिद्धांत (Infinitely nested radical problem) की विवेचना डॉ. नवल किशोर द्विवेदी ने संक्षिप्त में प्रस्तुत कर उनके प्रतिभा से हमें अवगत कराया है। गणितज्ञों के उल्लेखनीय कार्यों के विवेचना क्रम में कुछ अन्य उल्लेखनीय शोध–पत्रों में डॉ. कामेश्वर उपाध्याय द्वारा लिखित शोध पत्र विद्वतापूर्ण है। आचार्य वराहमिहिर द्वारा ग्रहों की परिभ्रमण काल निर्धारण का आधुनिक विज्ञान के काल निर्धारण में साम्यता की विवेचना और हमें खगोल विद्या में उनके योगदानों से परिचित कराती है। उपाध्याय जी ने आचार्य वराहमिहिर तथा भास्कराचार्य के उल्लेखनीय योगदानों पर भी अन्यत्र विद्वतापूर्वक विवेचना प्रस्तुत किया है। महात्मा लगध की ज्योतिष विद्या नामक उनका लेख भी ज्योतिष शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए रोचक एवं उपयोगी है। लेखकद्वय डॉ. नारायण गोपाल डोंगरे एवं डॉ. शंकर गोपाल नेने ने अंतरिक्ष वैज्ञानिक के रूप में महर्षि भारद्वाज के योगदानों को उन ग्रंथ अंशबोधिनी के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है।

महर्षि कणाद को डॉ. नारायण गोपाल डोंगरे जी सामान्य भौतिकी के आद्य प्रवर्तक के रूप में विवेचित किया है। जबकि प्रो. एस. विजय कुमार उन्हें अपनी संयमित तर्क बुद्धि एवं साक्ष्यों के आधार पर परमाणुवाद के आद्य प्रवर्तक घोषित करते हैं तथा उन्होंने कणाद द्वारा विवेचित परमाणु संकल्पना में वैज्ञानिकता की व्याख्या की है। कणाद की महत्ता के बारे में वे लिखते हैं, "किसी प्राक्कल्पना के लिए कितना भी साक्ष्य मिल जाये तो भी सिद्धांत या नियम प्राक्कल्पना ही रहता है। अन्तिम सत्य नहीं बन जाता है। एक सम्यक् संकल्पना अपने आप में खोज़ है। ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व जब वैज्ञानिक उपकरणों एवं तकनीक का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था, कणाद ने परमाणु के सिद्धान्त की प्राक्कल्पना कर एवं उसके लिए तत्कालीन दृष्टि से प्रमाण जुटाकर जो अभूतपूर्व कार्य किया उसके लिए वे विज्ञान एवं दर्शन जगत् में सदैव देदीप्यमान रहेंगे।"

'महर्षि चरक के ऐतिह्य एवं कृतित्व' लेख में प्रो. देवव्रत चौबे जी ने महर्षि चरक का काल निर्धारण दूसरी तथा तीसरी शताब्दी की संधि रेखा पर किया है। उनके ग्रंथ चरक संहिता की सहज दार्शनिक व्याख्या के माध्यम से प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख करते हुए प्रो. देवव्रत चौबे जी ने चरक द्वारा प्रतिपादित सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक की विशेषताओं का पाठ पाठक को पढ़ाया है। वे लिखते हैं– कि चिकित्सा कार्य का मूल उद्देश्य विश्व कल्याण एवं पीड़ित मानव की सेवा करना है। इसलिए चरक निर्देश देते हैं कि जो चिकित्सक अपने स्वार्थ एवं इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति की परवाह न करते हुए केवल प्राणियों के कल्याण की भावना से ही चिकित्सा कार्य करते हैं वे ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक हैं। इसके विपरीत जो चिकित्सक व्यावसायिक दृष्टि से चिकित्सा के कार्य में प्रवृत्त होते हैं वें अधम कोटि के चिकित्सक हैं।'

चिकित्सा क्षेत्र में महर्षि सुश्रुत एवं धनवन्तरि के योगदान पर विद्वत्तापूर्ण लेख के माध्यम से प्रो. श्री रामहर्ष सिंह जी ने धन्वन्तर सम्प्रदाय में अश्विनी कुमारों को फिजिशियन एवं सर्जन बताते हुए सुश्रुत संहिता के प्रतिपाद्य को महत्वपूर्ण माना है; क्योंकि इस ग्रंथ में मानव शरीर की रचना तथा क्रिया सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान भण्डार सृजित करने के साथ–साथ रोग–विज्ञान तथा रोगों की चिकित्सा का बहुआयामी आख्यान एवं शल्यतंत्र के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रयोग वर्णित है। प्रो. वी.के. जोशी ने इसी क्रम में 'अष्टांग हृदय ग्रंथ' के प्रणेता वाग्भट्ट की सामान्य जानकारी को प्रस्तुत किया है। आधुनिक वैज्ञानिकों पर निम्नलिखित शोध–पत्र उल्लेखनीय है। जगदीश चन्द्रबोसः 'जमुनाशरण सिंह एवं पूर्णिमा रायजादा' 'वेंकटरमण'– प्रो. ओंकारनाथ श्रीवास्तव, 'होमी जहांगीर भाभा', डॉ. विक्रमसारा भाई– डॉ. चन्द्रप्रकाश सिंह, 'प्रो. मेघनाथ साहा एवं प्रो. सत्येन्द्रनाथ दोष'– प्रो. सुरेन्द्र नाथ कुशवाहा, 'प्रो. श्रीधर सर्वोत्तम जोशी का जोशी प्रभाव'– सूर्य नारायण ठाकुर, सर मोक्षगुण्डम् विश्वेश्वरैया– प्रो. वीरेन्द्र कुमार डॉ. देवेन्द्र मोहन। इन सभी लेखों में हमारे आधुनिक वैज्ञानिकों के विषय में दुर्लभ जानकारियाँ संकलित हैं।

पुस्तक की भाषा–शैली गम्भीर होते हुए भी भारत के वैज्ञानिक–सांस्कृतिक पूंजी की समृद्ध विरासत को जानने के उत्सुक सम्प्रति लोकभावना को सन्तुष्ट करने के लिए उपयुक्त है। भारतीय वैज्ञानिक ज्ञान के रत्नों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व एवं उनके विवेच्य विषय को खोजती यह पुस्तक भारतीय ज्ञान की आलोचना करने वाली मानसिकता को सकारात्मक उर्जा प्रदान करती है। क्योंकि इस सन्दर्भ में हमारे पास समस्या यह है कि इसके लिए हमें संस्कृत एवं आधुनिक विज्ञान दोनों का समान रूप से ज्ञान आवश्यक है। नहीं तो वस्तुपरक ज्ञान की व्याख्या की समस्या सामने सदैव बनी रहती है। ऐसे में "भारतीय विज्ञान वैभव" के रूप में दीनानाथ झुनझुनवाला की प्रेरणा एवं प्राक्कल्पना सराहनीय है, जो उन्होंने इतने महत्वपूर्ण एवं विद्वान विशेषज्ञों को एक जगह एकत्रित करने में सफलता प्राप्त की है। यह पुस्तक भौतिक ज्ञान के विस्तृत फलक को अपने में समेटकर पाठक के अन्दर एक तरफ आत्मसन्तोष और गौरव के भाव को उद्दीप्त करती है तो दूसरी तरफ एक नयी चेतना का संचार करती हैं कि– 'सारा आधुनिक ज्ञान आयातित नहीं है। हमारी जड़े भी गहरी हैं, हमारे पूर्वज सिर्फ आध्यात्म विद्या के ही अन्वेषक नहीं थे। आज भले ही प्राचीन ज्ञान का विशाल वृक्ष आधुनिक परिवेश में ठूंठ की भाँति प्रतीत हो रहा हो यह पुस्तक हमें अपने धरातल से उसी प्रकार का नया वृक्ष उगाने की प्रेरणा अवश्य दे जाता है। संक्षेप में क्रिकेट की भाषा में अपनी संस्कृति पर चिंतन करने वालों की तरफ से यह पुस्तक गेंद रुप में गुड लेंथ पर फेंकी गयी रिवर्स स्विंग है।"

●●●●

*शोधार्थी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

राष्ट्रवादी दृष्टिपत्र

भावी भारत कैसा हो?

के.एन. गोविन्दाचार्य*

देश का लगभग प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि देश का भविष्य अच्छा हो। लोग समृद्ध और सुसंस्कृत हों, यहां का पर्यावरण स्वच्छ हो, सीमाएं सुरक्षित हों और लोग अमन-चैन से रहें। आज जबकि देश आजाद है, हमारे ऊपर विदेशी शासकों की जकड़न नहीं है और बहुसंख्यक लोग देश के भले की सोच रहे हैं, तो प्रश्न उठता है कि ऐसी क्या बात है जिसके कारण हम आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। उल्टे हमारी समस्याएं ही दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं। बात की तह तक पहुँचने के लिए हमें पहले समाज की रचना पर गौर करना होगा।

जो लोग देश समाज के बारे में अच्छा सोचते हैं, उन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहला समूह वंचित समाज का है जो वर्तमान व्यवस्था का शिकार है। यह समाज का वह हिस्सा है जो देश के लिए तो अच्छा सोचता है, लेकिन उसकी खुद की स्थिति अच्छी नहीं है। वह दीन–हीन है और तमाम तरह के शोषण का शिकार है। दो वक्त की रोटी जुटाने में ही उसकी सारी ऊर्जा तिरोहित हो जाती है। देश की शासन व्यवस्था समाज के इस वर्ग को बोझ मानती है। दिनों–दिन विपन्नता के भंवर में धँसता जा रहा यह समाज किसी क्रांति का ईंधन बन सकता है, लेकिन चिंगारी पैदा करने की उसकी क्षमता क्षीण हो चुकी है। दुर्भाग्यवश देश की आधी से अधिक आबादी इसी श्रेणी में है। जब हम भावी भारत की तस्वीर बनाने के लिए बैठें तो इस वंचित वर्ग को सबल और सक्षम बनाना हमारी पहली प्राथमिकता होनी चाहिए।

समाज का दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो देश के लिए अच्छा–अच्छा सोचते हैं। वो देश के लिए बहुत कुछ कर भी सकते हैं। कई मामलों में वे कुछ करते भी हैं। लेकिन अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए वो देशहित को पीछे छोड़ने में भी नहीं हिचकते। उनकी प्राथमिकता में हमेशा उनका अपना स्वार्थ होता है। राजसत्ता और अर्थसत्ता के शिखर पर बैठे तमाम लोगों में से अधिसंख्यक आज इसी श्रेणी में शामिल हैं। वर्तमान व्यवस्था इन लोगों का पोषण करती है, इसलिए वे इसके सबसे बड़े हिमायती हैं। संक्षेप में कहें तो समाज का यह स्वार्थी वर्ग है जो देश का हितैषी होने का ढोंग तो करता है, लेकिन वह देश के लिए वास्तव में कुछ ठोस सकारात्मक काम नहीं करता। उल्टे वह देश हित में काम करने वाली सच्ची ताकतों को रोकने, उन्हें नुकसान पहुँचाने और जरूरत पड़ने पर उन्हें नष्ट करने में ही लगा रहता है। उदाहरण के लिए दलाली और घुसखोरी के जरिए दौलत कमाने वाला कोई धनपति तमाम तरह के सामाजिक कार्यों में अपना पैसा लगाएगा, लेकिन वह किसी भी ऐसे प्रयास को सफल नहीं होने देगा जो उसके पैसा कमाने में अड़चन पैदा करती हो। कई बार तो ऐसे लोग अपने हितों के खिलाफ काम करने वाले लोगों की एक नकली फौज भी तैयार कर लेते हैं जो उनके लिए उत्पन्न असली चुनौतियों को नाकारा बना देती है। देश के उज्ज्वल भविष्य के रास्ते में ऐसे लोगों का समूह सबसे बड़ा खतरा है।

समाज में तीसरा समूह अपेक्षाकृत रूप से सबसे छोटा है। लेकिन भावी भारत के सभी सुंदर सपने इसी समूह के कंधों पर हैं। इस समूह के लोगों को हम सज्जन शक्ति का नाम दे सकते हैं। ये वो लोग हैं जिनके व्यक्तिगत हित और देश–हित में कोई अंतर्विरोध नहीं हैं वंचित समाज को ऊपर उठाने और स्वार्थी समाज की नकेल कसने में इस समूह के लोग हमेशा लगे रहते हैं। इस प्रक्रिया में इनका स्वार्थी समाज के साथ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष टकराव प्रायः चलता रहता है। स्वाभाविक रूप से वंचित समाज को सज्जन शक्ति के साथ होना चाहिए लेकिन सहज रूप से ऐसा होता नहीं है। स्वार्थी समाज ऐसा मायाजाल बुनता है कि वंचित समाज उसे अपना दोस्त मान लेता है जबकि सज्जन शक्ति को वह अपनी प्रगति में रूकावट मानने लगता है।

उपर्युक्त तीन समूहों में बंटा समाज सार्वकालिक सत्य है किसी भी एक समूह को पूरी तरह मिटाना संभव नहीं है। लेकिन तीनों समूहों की संख्या, उनकी तुलनात्मक शक्ति और समाज में उनका प्रभाव निश्चित रूप से परिवर्तनीय है। यदि हम भावी भारत को एक स्वस्थ्य समाज के नाते देखना चाहते हैं तो हमारे सामने एक ही विकल्प है और वह सज्जन शक्ति को मजबूत करना।

सज्जन शक्ति के प्रयासों को तीन भागों बौद्धिक, रचनात्मक एवं आंदोलनात्मक में बांटा जा सकता है। इन तीन प्रकार की गतिविधियों के संतुलित प्रयास से ही किसी समाज को सजाने–संवारने एवं मजबूत बनाने की मुहिम सफल बनायी जा सकती है। बौद्धिक गतिविधियों के अंतर्गत समाज अपनी ताकत और अपनी कमजोरियों का पहचान कर अपने लिए विधि–निषेध तय करता है। रचनात्मक प्रयासों के अंतर्गत सज्जन शक्ति का जोर समाज को अंदर से मजबूत बनाने पर होता है। आंदोलनात्मक प्रयासों के केन्द्र में राजसत्ता होती है। राज्य की जनविरोधी गतिविधियों का विरोध करना

आंदोलनात्मक गतिविधियों की मूल प्रकृति होती है।

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के संदर्भ में आंदोलनात्मक गतिविधियों में लगी सज्जनशक्तियों की दो श्रेणियां हैं। पहली श्रेणी उनकी है जो चुनावी राजनीति में शामिल होकर सत्ता हासिल करना चाहते हैं ताकि उसका उपयोग जनहित में किया जा सके। यह अलग बात है कि जो लोग इस रास्ते अब तक सत्ता में पहुंचे हैं, उनमें से अधिकतर अपने उद्देश्य के प्रति ईमानदार नहीं रह पाए। दलीय राजनीति के जरिए सत्ता तक पहुंचे लोगों ने उसी आम आदमी की जिंदगी को मुश्किल बनाया जिसकी हितरक्षा के लिए वे तथाकथित रूप से सत्ता की दौड़ में शामिल हुए थे। न केवल सत्ता पक्ष बल्कि विपक्ष भी जनता को अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतर सका है। विपक्षी दलों से यह अपेक्षा थी कि वे सरकार की जनविरोधी नीतियों का विरोध करते हुए उस पर अंकुश रखेंगी। लेकिन ऐसा हो नहीं रहा। अर्थसत्ता और राजसत्ता के अपवित्र गठजोड़ ने स्थिति को और गंभीर बना दिया है। भारत में इस समय जो हालात हैं उसमें सत्तापक्ष और विपक्ष दोनों अमीर परस्त और विदेश परस्त नीतियों को बढ़ावा देने में लगे हैं। ऐसे में देश की सज्जन शक्ति के लिए जरूरी हो गया है कि वह आम आदमी के हक की लड़ाई लड़ने के लिए नया निर्माण करे। शायद यही कारण है कि देश में स्थापित राजनीतिक दलों की बहुलता होने के बाहुबल और धनबल के अंधाधुंध इस्तेमाल के दौर में नए आदर्शवादी राजनीतिक समूहों की पहचान नहीं बन पायी है, फिर भी दीर्घकालीन संदर्भों में उन्हें आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता।

भारत में आंदोलनात्मक गतिविधि की दूसरी श्रेणी में वो समूह आते हैं जो स्वयं सत्ता हासिल नहीं करना चाहते, लेकिन वे सत्ता के स्थापित केन्द्रों पर नैतिक दबाव बनाने का पूरा प्रयास करते हैं। चुनावी हानि–लाभ का भय और लोभ दिखाकर वे सत्ता में बैठे लोगों को सही रास्ते पर चलाने की कोशिश करते रहते हैं।

चालीस से अधिक वर्षों के अपने सामाजिक जीवन में मैंने देश के एक–एक कोने का दौरा किया है। वहां के लोगों से मैं मिला हूँ। इस दौरान मैंने महसूस किया कि अपने देश में सज्जनशक्ति की सक्रियता चारों ओर लगातार बनी हुयी है। बौद्धिक, रचनात्मक एवं आंदोलनात्मक, तीनों प्रकार की गतिविधियों के द्वारा देश की सज्जनशक्ति राष्ट्र निर्माण के कार्य में जुटी हुई है। देश का आम आदमी अपनी रूचि, प्रतिभा और संसाधनों के साथ उनका सहयोग कर रहा है। इस सबके बावजूद सज्जनशक्तियों का समाज पर सकारात्मक प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं दे रहा है। इसके पीछे सज्जनशक्तियों का बिखराव मुख्य कारण है। उनमें आपस में कोई तालमेल नहीं है। प्रायः उनका दृष्टिकोण एकांगी होता है। देश की समस्याओं के प्रति समग्र दृष्टिकोण न होने के कारण प्रायः वे अनजाने में ही एक–दूसरे के विपरीत काम करने लग जाते हैं।

आज जरूरत इस बात की है कि जमीन से जुड़ी सज्जन शक्तियों को किसी अति केन्द्रित सांगठनिक ढांचे में जकड़े बिना और उनकी स्वायत्तता तथा निर्णय लेने की क्षमता को प्रभावित किए बिना उन्हें मजबूत और प्रभावी बनाया जाए। इसके लिए सज्जनशक्तियों के बीच संवाद, सहमति और सहकार का विशेष महत्व है। इस प्रक्रिया के द्वारा उन्हें भावी भारत के एक समग्र रूप की कल्पना करनी होगी। सभी को मिलकर एक समग्र रूप की कल्पना करनी होगी। सभी को मिलकर एक ऐसा चित्र बनाना है जिसके सभी हिस्सों में वो बेशक रंग न भरें लेकिन उन्हें मालूम हो कि कहां कौन सा रंग भरा जाना है। कौन चित्र को बदरंग करने की ताक में हैं, यह भी उन्हें मालूम होना चाहिए। उदाहरण के लिए गौरक्षा में लगे लोगों का मालूम होना चाहिए कि देश का लाखों करोड़ रूपया काले धन के रूप में विदेशी बैंकों में जमा है। उन्हें विदेशपरस्त और अमीरपरस्त राजनीतिक दलों की असलियत पता होनी चाहिए और साथ ही भारतपस्त और गरीबपस्त ताकतोंको पहचानकर उनका साथ देने की इच्छाशक्ति भी होनी चाहिए। इसी प्रकार भारतपरस्त और गरीबपरस्त राजनीतिक ताकतों को तथा जल के क्षेत्र में काम कर रहे लोगों को मालूम होना चाहिए कि गौरव के लिए कृषि का अंधाधुंध यांत्रिकीकरण ठीक नहीं। ऐसी ढेर सारी बातें हैं जहाँ सज्जन शक्ति के लोग एक–दूसरे की ताकत बन सकते हैं। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि उन्हें एक–दूसरे के कामों की समझ हो। बेशक वो काम अपने ही क्षेत्र में करेंगे, लेकिन दूसरे क्षेत्रों में होने वाले कामों के महत्व और उसके अच्छे–बुरे पहलुओं की समझ से मदद मिलेगी। इसके लिए सम्पूर्ण सज्जनशक्ति के बीच भावी भारत को लेकर एक साझा लक्ष्य निर्धारित करने की कोशिश होनी चाहिए। सभी आयामों में आदर्श स्थिति प्राप्त करने के लिए आवश्यक नीतियों को स्पष्ट करता हुआ एक राष्ट्रवादी दृष्टिपत्र तैयार करना बहुत जरूरी है। यह दृष्टिपत्र तभी प्रभावी होगा जब इसे तैयार करने में किसी एक व्यक्ति या किसी संगठन विशेष की बजाय सम्पूर्ण सज्जन शक्ति अपना योगदान दे। ऐसे दृष्टिपत्र के आलोक में जब बौद्धिक, रचनात्मक प्रयासों के साथ–साथ आंदोलनात्मक गतिविधियों (चुनावी राजनीति की परिधि के भीतर और बाहर दोनों) में लगी सम्पूर्ण सज्जन शक्ति राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए आगे बढ़ेगी तो हमें शीघ्र ही सकारात्मक परिवर्तन दिखायी देने लगेंगे। एक ओर जहाँ राजनीति मूल्यों और मुद्दों की पटरी पर लौटती नजर आएगी, वहीं व्यवस्था परिवर्तन के व्यापक उद्देश्यों की भी पूर्ति हो सकेगी।

राष्ट्रवादी दृष्टिपत्र की जरूरत को महसूस करते हुए मेरे कुछ सहयोगियों ने इस दिशा में काम किया है। उन्होंने इसका एक शुरूआती प्रारूप तैयार किया है जो यहां हम सभी के बीच चर्चा के लिए उपलब्ध है। इसके परिमार्जन तथा परिवर्धन में आप सभी सहभागी हों, ऐसी मेरी विनती है। आप अधिकाधिक लोगों तक इन्हें पहुंचाने में सहायता करेंगे, ऐसा आग्रह भी हैं।

●●●●

535, द्वितीय तल, डबल स्टोरी एरिया
न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली–110060
फोन : 011–28742395
Email : mail@kngovindacharya.in
Website : kngovindacharya.in

शोध-1

समकालीन सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में गांधी दर्शन की प्रासंगिकता

प्रीति मिश्रा*

शायद ही कोई ऐसा युग रहा हो जब मनुष्य के सामने कोई समस्या न हो और वह उसका समाधान न ढूँढता हो। कम से कम भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मानव–जीवन संबंधी विवेचन से तो यह स्पष्ट है। किंतु समस्या या समाधान दोनों अपने ही देश–काल एवं समाज के अनुकूल प्रासंगिक या अप्रासंगिक होते हैं। अतः जहाँ तक भारत का प्रश्न है इसके लिए इक्कीसवीं सदी का आरम्भ अन्य देशों की अपेक्षा कुछ विशेष उद्विग्नताओं के साथ होता है और उद्विग्नताओं के बीच जब हम अपने भविष्य की ओर देखते हैं तब हम कई तरह के सन्देहों, उलझनों, प्रश्नों, आकुलताओं से घिरे हुए महसूस करते हैं। हमें कही भी प्रकाश की किरण नहीं दिखाई देता है। मीडिया की चकाचौंध, विज्ञापन के मायिक जाल, सूचना क्रांति के अविश्वसनीय विस्फोट और बहुराष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह के बीच जहाँ बढ़ती हुई गरीबी के कारण आत्महत्याएँ हो रही हैं वहीं साम्प्रदायिकता मनुष्यता को लील रही है। सामाजिक एवं आर्थिक असमानता के कारकों ने आज विश्व–प्रेम एवं विश्वबंधुत्व जैसे भावों को न केवल नकार दिया है अपितु उसका गला घोट दिया है। एक तरफ मानव विज्ञान एवं आर्थिक क्षेत्र में नई ऊँचाइयों को छू रहा है तो दूसरी तरफ उसका सुख और उसकी शांति कहीं खो–सी गयी है। वह नूतन जीवन की तलाश में भय, निराशा और अवसाद के साथ समझौता करने के लिए मजबूर है। ऐसे में समाधान के समस्त प्रयास निरर्थक साबित हो रहे हैं।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'मैकाइवर' एवं 'पेज' के अनुसार ''समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।''[1] इसीलिए व्यक्ति और समाज दोनों सापेक्ष हैं। एतदर्थ उनकी समस्याएँ भी प्रायः एक है। विशेषतः भारत के परिप्रेक्ष्य में असमानता, गरीबी, अशिक्षा, अस्पृश्यता, भूखमरी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता तथा पर्यावरण आदि का जो रूप गाँधी की परिकल्पना में हो सकता था वह तो है ही बल्कि आज उससे भी बदतर है। संसद और आतंकवाद का जो घिनौना रूप आज भारत के सामने है गाँधी के लिए अकल्पनीय था। अब तो प्रजातंत्र से लोगों का विश्वास इस हद तक समाप्त हो गया है कि इसकी तुलना में ब्रिटिश शासन की श्रेष्ठता सिद्ध करने में तार्किक प्रमाण आने लगे हैं। प्रश्न है क्या हमारी वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं कतिपय वैश्विक समस्याओं के सन्दर्भ में गाँधी दर्शन की कोई प्रासंगिकता है ?

ध्यातव्य है कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी समय के सापेक्ष ही खड़ा होता है। समय निरपेक्ष यानि सार्वकालिक, सार्वदेशिक, व्यक्तित्व, जो हर काल, हर देश, हर परिस्थिति में खरा उतरे, न कभी पैदा हुआ, न कभी होगा। अब चाहे वह बुद्ध हो, ईसा हो या मोहम्मद या फिर इस युग में लेनिन हो, माओ या गाँधी। 'हर विराट व्यक्तित्व अपने समय की कुछ तत्कालीन माँगों को पूरा करता है और कुछ अनुकरणीय आदर्श स्थापित कर इतिहास की सामग्री हो जाता है।[2] कुछ भी हो, 'गाँधीवाद आज भी भारतीय मनीषा को मथ रहा है। कोई उसे प्रासंगिक बताता है, तो कोई नितांत अप्रासंगिक। वास्तविकता सिर्फ बहस से तय नहीं होती, व्यवहार से तय होती है और व्यवहार एक वर्ष या एक दशक में नहीं नापा जा सकता।'[3] फिर भी गाँधी के पुनर्मूल्यांकन की बहस को बढ़ाने की जरूरत है, ताकि इस मंथन में से एक ऐसी समझ का विकास हो, जो भारतीय समाज को आगे बढ़ाये। इसके लिए आवश्यक है कि यदि गांधीवाद का कुछ त्याज्य है तो उसे छोड़ दिया जाना चाहिए लेकिन जो श्रेष्ठ एवं ग्रहणीय है उसे हृदय से स्वीकार किया जाना चाहिए।

'भारत में गरीबी के अपने मिथक और अपने यथार्थ हैं। आजादी के बाद पाँचवें दशक के सामुदायिक विकास कार्यक्रम से लेकर छठवें दशक के हरित क्रांति कार्यक्रम और सातवें दशक के बीससूत्रीय कार्यक्रम से लेकर आठवें दशक की नवउपनिवेशवाद प्रेरित योजनाओं तक जारी परमार्थपरक नीतियों के कारण अनुमानतः साढ़े पाँच लाख गाँव उम्मीदों और अपेक्षाओं के उसी हाशिये पर आज भी खड़े हैं जहाँ वे पहले थे। परिस्थितियाँ अब इतनी भयावह हो चुकी हैं कि खाद्यान्न उत्पादन की स्वघोषित आत्मनिर्भरता के बावजूद सरगुजा, पलामू और कालाहाड़ी की भूखमरी आज तक जिंदा है।[4] देश में प्रचुर मात्रा में मानवशक्ति, धन संपत्ति होते हुए भी सौ में से चालीस लोगों को रोटी–कपड़ा नहीं मिलता। 'अर्थव्यवस्था' के वैश्वीकरण से अनेक मोहक स्वप्न जोड़े गये हैं, पर संसार के दो तिहाई भाग के दो तिहाई लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए इस नयी आर्थिक नीति के पास कोई समाधान नहीं है।'[5] किंतु गांधीवादी अर्थव्यवस्था में इस समाधान को देखा जा सकता है। जैसे– गांधी का कुटीर उद्योग आधारित आर्थिक स्वावलंबन का सिद्धान्त, न्यासिता का सिद्धान्त, कायिक श्रम का सिद्धान्त आदि। गांधी की मान्यता है कि ये सिद्धान्त केवल हमारे आर्थिक जीवन में ही सहायक नहीं हैं अपितु हमारे सामाजिक जीवन के लिए जिसमें परस्पर प्रेम, सौहार्द्र एवं सहयोग की अति आवश्यकता होती है, के स्थापन एवं सर्वोदयी लक्ष्य को प्राप्त कराने में भी सहायक हैं।

जैसा कि हम जानते हैं कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए सबसे अनिवार्य है 'शिक्षा'। इसके बिना लोकतांत्रिक संस्थाओं के उत्थान की कल्पना महज ढकोसला है। आज पूरी दुनिया में हम अशिक्षितों की फौज के लिए कुख्यात हैं। आम आदमी के लिए शिक्षा उपभोक्ता वस्तु की तरह महंगी होती जा रही है। ''शिक्षा के सार्वभौमीकरण की जगह निजीकरण की नीति अपनाई जा रही है। संविधान के

नीति–निदेशक तत्त्वों में महज एक चर्चा बनकर शिक्षा का रह जाना हमारी नियति है। स्कूलों व कॉलेजों की शिक्षा श्रम व नैतिकता के पाठ से रहित है।''[6] जिसका परिणाम बेरोजगारी एवं उससे जनित अनेक सामाजिक समस्याओं के रूप में देखा जा सकता है। आजादी के लगभग साढ़े पाँच दशक पूरे कर लेने एवं दस पंचवर्षीय योजनाओं की लम्बी छलांग लगा लेने के बावजूद बेरोजगारी के जितने भी और जैसे भी स्तर हो सकते हैं वे सब भारतीय समाज में मौजूद हैं। आज भारत के सामने बेरोजगारी की समस्या एक स्थायी एवं कठिन समस्या के रूप में विद्यमान है। हम मानते हैं कि बेरोजगारी व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है, समाज के लिए रिसता हुआ घाव हैं बेरोजगारी से गरीबी, भुखमरी, शारीरिक कमजोरी, हीनभावना, मानसिक वेदना, असंतोष और अनैतिकता का जन्म होता है। किंतु इसे समूल नष्ट करने की चिंता किसे है। अब तो गरीबी मिटाओ के नारे की जगह गरीबों के लिए राहत कार्य जैसे ऐसे नारों का प्रयोग हो रहा है जो गरीबी मिटाना नहीं अपितु गरीबों को जिन्दा रखकर उनको उनकी नियति पर छोड़ देना चाहते हैं। सवाल सहयोग का नहीं सहयोग के पीछे छिपी घृणित मानसिकता का है। इस संकट में गाँधी का प्रयोग एवं उनका चिंतन प्रकाश स्तंभ की भूमिका निभा सकता है। ''गाँधी ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय की इस सूक्ति 'ज्ञानं भारः क्रिया बिना' को हृदयंगम किया था। गाँधी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के समर्थक थे, उन्हे 'मैकाले दर्शन' पर आधारित शिक्षा व्यवस्था दोषपूर्ण एवं असंगत प्रतीत होती थी।[7]'' इसलिए गाँधी ने 'बुनियादी शिक्षा' की योजना बनाई। गाँधी जी की शिक्षा व्यवस्था में बच्चे अक्षर ज्ञान लिखने से पहले दस्तकारी सीखेंगे ताकि बच्चा बड़ा होकर स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हो सके, न कि उच्च शिक्षा प्राप्त करके भी वह इस योग्य न हो कि स्वयं अपना एवं परिवार का भरण–पोषण न कर सके। अतः गाँधी की शिक्षा नीति स्वावलम्बन पर आधारित थी जिसे वे सामाजिक परिर्वतन का एक उपकरण मानते थे। वर्तमान शताब्दी में भारत सहित विश्व के विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में बेरोजगारी जिस तीव्र गति से बढ़ रही है और समाज में मूल्यों का जिस गति से ह्रास हो रहा है, उसे देखते हुए गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली ही श्रेष्ठतम प्रतीत होती है जिसके अनुसार हर हाथ को काम एवं हर काम का उचित दाम मूल सूत्र हो सकता है।

भारत में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही साम्प्रदायिकता की समस्या जटिल एवं चिंताजनक बनी हुई है। साम्प्रदायिकता 'साम्प्रदायिक मस्तिष्क' की उपज है। यह धार्मिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधविश्वासों से जुड़ी है। इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास सर्वोपरि है। अतः वह दूसरों को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। क्योंकि इसके पीछे उसे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। ''हालाँकि वर्तमान में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है, बल्कि इसके साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय भी जुड़े हैं फिर भी यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णता के लिए धर्म का ही सहारा लेती है जिससे तनाव बढ़ता है।''[8] 1947 में भारत विभाजन के दौरान उमड़े साम्प्रदायिक दंगों के जूनून के बाद 1984 में पंजाब समस्या के आँचल में हुए दंगों की विभीषिका सामने आई है। अस्सी का दशक पंजाब में अशांति, अराजकता, आतंकवाद एवं विघटनकारी तत्त्वों का दशक रहा। प्राकृतिक सौन्दर्यशक्ति और पर्यटन के लिए विख्यात हिमालय पर्वत के साये में अवस्थित कश्मीर भारत विभाजन से ही बाह्य एवं आंतरिक शक्तियों के कुत्सित आतंकवादी कारनामों से आक्रान्त है। 1990–92 के बीच रामजन्मभूमि, बाबरी मस्जिद ढाँचों को लेकर एक बार फिर साम्प्रदायिकता का मंजर उठ खड़ा हुआ। काश्मीर और गोधरा की साम्प्रदायिकता 1947 के साम्प्रदायिकता से अधिक घातक थी। गुजरात दंगे तथा उड़ीसा के कंधमाल की विभीषिका हमारे सामने है। इन घटनाओं से शुरू होता है हिंसा और मौत का खेल जिसका न कोई अंत और न ही कोई परिणाम। ऐसी स्थिति में गाँधी द्वारा प्रतिपादित सर्वधर्म समभाव का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् यदि हम सब समस्त धर्मों एवं मनुष्यों को समान महत्व और अधिकार देते हुए किसी भी रूप उनका कभी भी अपमान न करें तो संसार से धार्मिक अभिमान के कारण होने वाले संघर्ष का निराकरण हो सकता है।

यहाँ इस तथ्य का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण है कि भारत जैसे देश में साम्प्रदायिकता से कम खतरनाक जातिवाद, वर्गवाद, धर्मान्तर तथा नक्सलवाद भी नहीं है। जातिप्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गंभीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह भारतीय समाज की ही विशेषता है। डब्ल्यू0 एन0 कुबेर के अनुसार ''अस्पृश्यता जातिवाद का ही कड़वा फल है, यह कोई अलग प्रथा नहीं है।''[9] जातिवाद ही अस्पृश्यों की निर्धनता, निरक्षरता, असहायता और बदतर जीवन के लिए उत्तरदायी है। ''उसने अस्पृश्यों को सामाजिक रूप से त्याज्य, आर्थिक दृष्टि से विपन्न और राजनीतिक रूप से उच्च जातियों का दास बना कर रखा है। उसने उन्हें शिक्षाविहीन, व्यवसायविहीन, धनविहीन और शास्त्रविहीन बना कर रखा है।''[10] जातीयता के रोग से हिंसात्मक घटनाएँ भी घटित हुई हैं। बेलछी और जहाँनाबाद की हिंसक घटनाएँ रोंगटे खड़े कर देती हैं। आरक्षण की राजनीति ने भी जातिगत विद्वेष को भड़काया है। ''गुजरात का आरक्षण विरोधी हिंसक आन्दोलन इसका प्रमुख उदाहरण है। सन् 1990 में मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा के बाद भी देश में जगह–जगह इसके विरोध में हिंसक घटनाएँ हुई''[11] आजकल तो भारतीय समाज को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है। सवर्ण तथा पिछड़े। ''भारत के सभी राजनीतिक दल और नेता ऊँचे स्वर से जातिवाद और जातीय राजनीति को हेय बताते हैं किंतु वास्तविकता यह है कि सभी दल और नेता जातीय आधार पर अपने दल ओर दलीय प्रत्याशियों के लिए

समर्थन माँगता है। यहीं नहीं अनेक दलीय प्रत्याशियों का चयन भी जातीय आधार पर किया गया है, सरकार–निर्माण की प्रक्रिया भी जातीय–प्रभाव से मुक्त नहीं रहतीं।''[12] भारत की राजनीति में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ अशिक्षित अंगूठा छाप व्यक्ति जातियों के कन्धे पर चढ़कर विधानसभाओं और संसद में प्रवेश करते हैं तथा जातिवादी राजनीति के बल पर मंत्री–पद तक हथिया लेते हैं। किंतु हम जानते हैं कि वोटबैंक की राजनीति के परिणामस्वरूप, जातिगत आधारित मॉडलों पर राजनीतिक सहमति हो सकती है परंतु इस पर सामाजिक सहमति नहीं। क्योंकि जाति आधारित आरक्षण समाज में फूट डालता है। इतना ही नहीं इस घृणित जातिवादी राजनीति एवं वर्गीय आरक्षण विषयक व्यवस्था के कारण राष्ट्र की जो गुणात्मक क्षति होती है वह कम दुःखदायी नहीं है। असहाय की मदद एवं उसको स्ववलंबी बनाने का कोई भी प्रयास श्लाघ्य है किंतु राष्ट्रीय हित से संबंधित महत्वपूर्ण पदों एवं राष्ट्रीय विकास से संबंधित विविध संस्थाओं में योग्यता की अपेक्षा जाति एवं वर्ग आधारित आरक्षण किसका हित करेगा, यह सहज बुद्धिगम्य है। ऐसा नहीं है कि गाँधी जी के समय में यह वातावरण नहीं था किंतु गुण और कर्म पर आधारित जिस व्यवस्था को गांधी ने स्वीकार किया था वह व्यक्ति एवं राष्ट्र दोनों के लिए उपादेय है। गांधी वर्णव्यवस्था के समर्थक थे। गीता में भगवान कृष्ण की वाणी – 'चातुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुण कर्म विभागशः' – को ही वे वर्णाश्रम धर्म की प्रतिध्वनि मानते हैं। ''वे वर्णव्यवस्था को जातिव्यवस्था से भिन्न मानते थे। वर्ण कर्मणा है और जाति जन्मना' यही गांधी की मान्यता है। उनकी दृष्टि में जाति समाज के लिए कलंक है। भारतीय संस्कृति पर काला धब्बा है। हमारी संस्कृति 'मदात्मा सर्वभूतात्मा' का सदैव पक्षधर रही है।''[13] यहाँ अद्वैतवाद के साथ जातिवाद नहीं चलेगा। गांधी जी की दूर दृष्टि धर्म के नाम पर टुकड़े–टुकड़े होने वाले अपने अखण्ड भारत के भविष्य को देख रही थी। गांधी ने अपने चिन्तन को नीति का रूप देकर भारत के अभ्युत्थान के लिए संगठनात्मक पद्धति अपनायी थी।[14] गांधी धर्मपरिवर्तन के आधुनिक उपायों के विरोधी थे क्योंकि उनकी यह मान्यता थी कि धर्म एक व्यक्तिगत मामला है जिसका संबंध हृदय से है। इसीलिए मानव दया के कार्यों की आड़ में धर्मपरिवर्तन करना अहितकर है।[15] गांधी स्वतंत्र भारत में वर्गविहीन और जातिविहिन समाज कायम करने को अपना आदर्श मानते थे।

भारत दुनियाँ के उन समृद्धतम् देशों में से एक है जो अपने प्रकृतिक तथा मानवीय संसाधनों की दृष्टि से समृद्ध है लेकिन भारत की गिनती दुनिया के सबसे भ्रष्टतम् देशों में होती है। हर साल एक से बढ़कर एक घोटाले दुनिया में भारत की छवि को धूमिल कर रहे हैं। आज सरकारी कर्मचारी रिश्वत लेना अपना मौलिक अधिकार समझता है। आम आदमी जब किसी सिलसिले में प्रशासकीय तंत्र के चंगुल में फँसता है तो उसकी ज़ेब खाली हो जाती है। जैसे– यदि उसे राशनकार्ड बनवाना हो, टेलीफोन का नया कनेक्शन लेना हो, तहसील से अपने खेतों की कोई नकल लेनी हो, कृषि कार्य हेतु सरकारी कर्ज लेना हो, जाति प्रमाण–पत्र बनवाना हो। इन सब कार्यों के लिए जब तक वह कुछ लोगों की जेबों को गरम नहीं कर देता तब तक उसका काम नहीं होता। आजकल यह शिकायत आम बात हो गई है कि अधिकतर सरकारी दफ्तर तथा कुर्सी–कुर्सी के चक्कर लगाकर 'चढ़ावा न चढ़ा दे। ऐसे वातावरण में गांधी का नैतिक दर्शन एक नई रोशनी, नई दिशा प्रदान करता है। गांधी ने ईशोपनिषद् के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृथः कस्यस्विद्धनम्[16] की तरह ही भोग में त्याग की वृत्ति को अपनाने पर बल दिया हैं। साथ ही यह भी कहा है कि व्यवसायों में नैतिकता की स्थापना से चारित्रिक सुदृढ़ता आयेगी तथा इससे भ्रष्टाचार रूपी महाकुरीति का उन्मूलन हो सकता है। डॉ0 विष्णुकांत शास्त्री का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि ''मैं मानता हूँ कि आज की स्थिति में गांधी जी को समझना, गांधी जी को पढ़ना और गांधी जी को अपने स्तर पर अपने जीवन में उतारने की बड़ी आवश्यकता है। आज जो यह अशुद्धि फैली है, उससे हम तभी बच पायेंगे जब हम लेने की वृत्ति से ऊपर उठकर देखें तथा देने की वृत्ति को अपने जीवन में उतारें।''[17]

पर्यावरण वर्तमान समय का सर्वाधिक विचारणीय विषय है। पर्यावरण जिस पर मानव जीवन का अस्तित्व टिका है, जो मानवमात्र के लिए सुख–सुविधाओं का विपुल भण्डार है, आज मानव के कुकृत्यों का शिकार हो रहा है। दुनिया भर के पर्यावरणविद् चिन्तित हैं कि पर्यावरण की उभरती समस्याएँ पर्यावरण को निगल जाने के लिए मुँह खोले खड़ी हैं। जीवन का आधार जल दूषित होता जा रहा है। हृदय की धड़कनों का आधार वायु प्रदुषित होने लगा है। ''कर्णकुहर को शान्त वातावरण मिलना कठिन हो रहा है, पारमाणविक युद्ध की विभीषिका से मानवता भयाक्रान्त है, क्योंकि उसे मालूम है कि परमाणु – विस्फोट से उत्पन्न रेडियेशन से वर्तमान ही नहीं आने वाली कई पीढ़ियाँ पंगु और रोगग्रस्त हो जायेंगी। भोपाल गैस त्रासदी झेल चुकी मानवता पर्यावरण की उभरती समस्याओं की ओर निरीह होकर देख रही है।''[18] आज समूचा विश्व जिस तरह किसी न किसी प्राकृतिक आपदा की चपेट में आकर जन–धन की अपार क्षति उठा रहा है, उसने मानव को प्रकृति के साथ अपने संबंधों पर पुनर्विचार करने हेतु बाध्य कर दिया है। ऐसे में गांधी की पर्यावरणीय दृष्टि एक सक्षम विकल्प हो सकती है। गांधी ने 'हिंद स्वराज' में कहा है ''प्रकृति के भण्डार अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त हैं। परंतु चंद लोगों की लालच को तृप्त करने के लिए बहुत थोड़े हैं। हम अपनी असीमित आवश्यकताओं को पूरा करना चाहते हैं। इन सब कारणों से पर्यावरण में असंतुलन हो गया है जिससे मानवीय जीवन के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लग गया हैं यदि समय रहते हम पर्यावरण को सुरक्षित रखने में कामयाब नहीं हुए तो हमारी भावी पीढ़ियों को प्रतिकूल परिणाम भोगने पड़ेंगे।''[19] गांधी की प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि सर्वाधिक उपयुक्त

है।

सन् 1960 के दशक से उभरा नक्सली आन्दोलन आज देश के कई भागों को पूरी तरह अपनी गिरफ्त में ले चुका है। 'माओ' के दर्शन में विश्वास रखने और और उसके अनुसार कार्यवाही करने वाले नक्सली आन्दोलनकारियों ने आतंकवादी तरीकों का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार वर्तमान हिंसा एवं छल–छद्म ने मानवता के अस्तित्व पर ही विराट् प्रश्नचिह्न लगा दिया है। मानवता के समक्ष अनेक दुर्गम कठिनाइयाँ हैं और वह धार्मिक, शारीरिक एवं आर्थिक हिंसा के दौर से बढ़ती हुई आतंकी हिंसा, एवं प्रतिहिंसा के युग में प्रविष्ट हो गई हैं। ऐसी स्थिति में स्वतः ही गांधी के उन विचारों का स्मरण हो आता है। जिन्होंने हिंसा का उत्तर हिंसा से नहीं अपितु अहिंसा से देने की बात कही थी। आज की विषम परिस्थितियों में जहाँ एक ओर राजनीतिक समस्याओं का हल हथियारों से ढूँढा जा रहा है तथा दूसरी ओर मानवीय आकांक्षाओं एवं जीवन की सच्चाई में कहीं कोई तालमेल एवं आपसी समन्वय नहीं है ऐसे में गांधी जी का सत्य एवं अहिंसा का दर्शन ही सर्वाधिक प्रासंगिक और मानवता को महाविनाश से बचाने का एकमात्र उपाय दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि समसामयिक समस्याओं को देखने और सुलझाने की जो दृष्टि जैसे – राजनीति एवं अर्थनीति में नैतिकता का समावेश, धर्म का अभिन्न प्रतिपादन, संपत्ति संबंधों में अपरिग्रह की अवधारणा, अहिंसक समाज का निर्माण, संकीर्ण राष्ट्रवाद की अस्वीकृत, भ्रातृभाव पर निर्मित एक विश्व समाज की संरचना, प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग एवं स्वावलंबन तथा राजनीति के स्थान पर लोकनीति की कतिपय अवधारणाएँ आदि गांधी ने दी है वह वर्तमान तनावपूर्ण वैश्विक वातावरण को नई रोशनी एवं नई स्फूर्ति प्रदान कर सकती है। अस्तु,

''ना कुँवर के तलवार की न अधिक प्यार की।
समाज को जरूरत है गांधी के विचार की।''

सन्दर्भ :

1. समाज – दर्शन की भूमिका, जगदीश सहाय श्रीवास्तव से उद्धत, पृ0 47
2. गांधी दर्शनः नयी सदी के बदलते संदर्भ, डॉ0 कृष्ण कुमार स्टू0, पृ0 185
3. गांधी दर्शनः नयी सदी के बदलते संदर्भ, डॉ0 कृष्ण कुमार स्टू0, पृ0 186
4. कुरूक्षेत्र, अंक 12, अक्टूबर 2006, पृ0 86
5. गांधी दर्शनः नयी सदी के बदलते संदर्भ, डॉ0 कृष्ण कुमार स्टू0, पृ0 135
6. गांधी दर्शनः नयी सदी के बदलते संदर्भ, डॉ0 कृष्ण कुमार स्टू0, पृ0 135
7. गांधी दर्शन के विविध आयाम, प्रो0 बी0 एम0 शर्मा, पृ0 160
8. भारतीय सरकार एवं राजनीति, डॉ0 आर0 एन0 त्रिवेदी , पृ0 407
9. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, डॉ0 अमरेश्व अवस्थी, पृ0 419
10. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, डॉ0 अमरेश्व अवस्थी, पृ0 419
11. भारतीय सरकार एवं राजनीति, डॉ0 आर0 एन0 त्रिवेदी, पृ0 412
12. भारतीय राजनीति में जाति, रजनी कोठारी, पृ0 13
13. गांधी दर्शन के मूल बिंदू, डॉ0 दुर्गादत्त पाण्डेय, पृ0 62
14. गांधी विचार और सामाजिक पुनर्रचना, डॉ0 रामजी सिंह पृ0 139
15. यंग इण्डिया, 23 अप्रैल, 1931
16. ईशावास्योपनिषद्, शान्तिपाठ
17. राष्ट्रीय चेतना और हिंदी साहित्यः डॉ0 विष्णुकान्त शास्त्री, पृ0 131
18. समाज और पर्यावरण, प्रो0 के0के0 मिश्र, पृ0 21
19. हिन्द स्वराज

●●●●

*शोध छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शोध-2

भारत में बाल अपराध : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

श्रीमती कंचन*
सतेश्वर कुमार जैसल**

वर्तमान आधुनिक समाज की अनेक सामाजिक समस्याओं में बाल–अपराध की समस्या एक प्रमुख स्थान रखती है। अनेक दूसरी सामाजिक समस्याओं के साथ बाल अपराध का उदय भी आधुनिक युग में तीव्र नगरीकरण एवं औद्योगिकीकरण के कारण हुआ है। नगरीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न सामाजिक दशाओं ने परिवार रूपी संस्था को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। जिसके परिणामस्वरूप पारिवारिक एवं वैयक्तिक विघटन के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित हुआ। ग्रामीण क्षेत्र छोड़ने वाले या गन्दी बस्तियों में रहने वाले और शहरी क्षेत्र में समंजन की खोज करने वाले अनगिनत बच्चे इस प्रक्रिया के शिकार बनते हैं और फलतः सामाजिक दृष्टि से कुसमायोजित बालकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि देखी गयी है। श्री जी0सी0 दत्त (Intelligence Bureau, Government of India, Seminar on Social Defence, March 1964 (1965), P.30' कहते हैं, "भारत में बाल अपराध बड़ी तीव्र गति के साथ एक गम्भीर संकट होता जा रहा है और देश के विभिन्न भागों के, जो आज से कुछ वर्ष पूर्व अनिवार्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के ही एक अंग थे, प्रगतिशील औद्योगीकरण के साथ–साथ यह समस्या अनेक पाश्चात्य देशों में उपलब्ध स्थान को शीघ्र ही ग्रहण कर लेगी।"

बाल अपराध निश्चित आयु से कम बच्चों के ऐसे व्यवहार को कहते है जिसे समाज अस्वीकार करता है अथवा बाल अपराध उनके ऐसे कार्यों को कहा जाता है जो कि समाज कल्याण के लिए हानिकारक हो सकते हैं। बाल अपराध से तात्पर्य बच्चों का असामाजिक तथा अनैतिक आचरण में लिप्त होना है जो प्रौढ़ो के लिए दण्डनीय होते है। बाल अपराध को विभिन्न विद्वानों ने समय–समय पर निम्न प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया है :–

M.J. Sethna, 'Society and the Criminal' - "बाल अपराध के अन्तर्गत किसी ऐसे बालक या तरूण के गलत कार्य आते हैं जो कि सम्बन्धित स्थान के कानून (जो इस समय लागू हो) के द्वारा निर्दिष्ट आयु सीमा के अन्तर्गत आता हो।"

Martin H. Neumeyer, 'Juvenile Deliqueney in Modern Society, P.84' - "एक किशोर अपराधी निर्धारित आयु से कम का वह व्यक्ति है, जो समाज–विरोधी कार्य करने का दोषी है और जिसका दुराचार कानून भंग करना है।"

Walter C. Reckless, 'Handbook of Practicals Suggestions for the Treatment of Adult and Juvenile Deliquent offendens P.3'

–"बाल अपराध शब्द आपराधिक– संहिता के उल्लंघन पर एवं/अथवा व्यवहार संरूपण के उस अनुसरण पर लागू होता है जिसे बच्चों या वयस्कों द्वारा अच्छा नहीं समझा जाता है।"

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि बाल अपराध की प्रमुख रूप से दो विशेषताएं हैं :– (1) यह अपराध निश्चित आयु से कम के बच्चों द्वारा किया जाता है, और (2) बच्चों के वे व्यवहार जो कि लोक कल्याण के लिए अहितकर सिद्ध होते हैं, बाल अपराध कहलाते हैं।

बाल अपराध के निर्धारण की आयु भिन्न–भिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न है। बाल अपराधियों की उच्चतम आयु सीमा मिस्र, इराक, लेबनान तथा सीरिया में 15 वर्ष, फिलीपिन्स, लंका, वर्मा तथा इंग्लैण्ड में 16 वर्ष, भारत में लड़कियों के लिए 18 वर्ष तथा लड़कों के लिए 16 वर्ष, ईरान, जोर्डन, सऊदी अरब तथा थाइलैण्ड में 18 वर्ष तथा जापान में 20 वर्ष है। डा0 सेथना की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि जिनके घर–बार नहीं होते हैं तथा जो बेकार और निरूद्देश्य इधर–उधर घूमते हैं, वही बाल अपराधी कहलाते हैं।

इस प्रकार, यदि कोई बालक स्कूल से भागता है या अनुपस्थित रहता है, आवारा लोगों के साथ रहता है, रात को घर नहीं ठहरता है, जुआ आदि खेलता है, तो वह बाल अपराधी है।

अमेरिका में 'राष्ट्रीय परिवीक्षा समिति' ने बाल अपराधी की परिभाषा इस प्रकार दी है :–

(अ) किसी प्रान्त अथवा इसके किसी क्षेत्र के कानून अथवा मान्यता का उल्लंघन किया हो,

(ब) जो सुधार से परे, उद्दण्ड तथा अवज्ञाकारी हो और अपने माता–पिता, संरक्षक अथवा कानून अधिकारियों के नियंत्रण से परे हो,

(स) जिसको स्कूल से अनुपस्थित रहने की आदत पड़ गई हो, तथा

(द) जो इस प्रकार का व्यवहार करता हो जिससे जानबूझकर स्वयं उसकी या अन्य व्यक्तियों की नैतिकता अथवा स्वास्थ्य को हानि पहुंचती हो।

बाल अपराध की समस्या आदि काल से चली आ रही है तथा आजकल तो बाल अपराधियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। इसलिए इसके कारणों तथा इसे समाप्त करने के उपायों पर गहरा चिन्तन सभी विकसित तथा विकासशील देशों में होने लगा है।

Hansa Sheth, Juvenil Deliquency, P. 105. ने बाल अपराधियों का अध्ययन करके बाल अपराध के पांच प्रकार बताये हैं :–

1. सम्पत्ति के विरूद्ध बाल अपराध,
2. राशनिंग नियमों के विरूद्ध बाल अपराध,
3. मद्यनिषेधाज्ञा के विरूद्ध बाल अपराध,

4. यौन आदर्शों के विरूद्ध अपराध, तथा
5. अन्य अपराध।

इसके अतिरिक्त बाल अपराधियों की आयु के आधार पर 7 से 12 वर्ष के बाल अपराधी, 12–16 वर्ष के बाल अपराधी, 16–21 वर्ष के बाल अपराधी अथवा बालक, किशोर–पूर्व, किशोर और युवक बाल अपराधी आदि श्रेणियों में भी विभाजित किया जा सकता है। लिंग के आधार पर इन्हें बालक अपराधी तथा बालिका अपराधी और क्षेत्र के आधार पर औद्योगिक एवं नगरीय क्षेत्र के बाल अपराधी तथा ग्रामीण क्षेत्र के बाल अपराधी आदि श्रेणियों में भी विभाजित किया जा सकता है।

भारत में बाल अपराध की प्रकृति एवं विस्तार :

बाल अपराध कई प्रकार के होते हैं तथा इनको सूचीबद्ध करना एक कठिन कार्य है। अनैतिक और अशोभनीय व्यवहार करना, चोरी करना, जुआ, मद्यपान और मादक द्रव्यों का व्यसन करना, दंगा करना, विश्वासघात करना, स्कूल से भाग जाना, अनैतिक एवं बुरे आदमियों की संगति में रहना, रात्रि को निरूद्देश्य घूमना तथा बीड़ी–सिगरेट पीना आदि विविध प्रकार के समाज–विरोधी कार्य बाल अपराध कहलाते हैं।

भारत में बाल अपराध की समस्या की गम्भीरता राष्ट्रीय आँकड़ों से पता चल जाता है इस क्रम में Crime in India: 2000, P.284 की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2000 में 1995–1999 की तुलना में 4.3 प्रतिशत बाल अपराध अधिक हुए है। दोनों ही वर्षों में सर्वाधिक मामले चोरी, दंगे तथा सेंधमारी के रहे, यद्यपि 1990 में इन तीनों प्रकार के बाल अपराधों में कमी हुई है। वर्ष 1990 में अधिकांश बाल अपराध की प्रकारों में वर्ष 1989 की तुलना में कमी हुई है। विभिन्न राज्यों में भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत हुए बाल अपराधों से सम्बन्धित आंकड़ों से पता चलता है कि महाराष्ट्र में 1990 ई0 में बाल अपराध के सर्वाधिक मामले (27.2 प्रतिशत) मामले थे। इसके विपरीत, उत्तर प्रदेश में बाल अपराध के मसले सबसे कम (0.6 प्रतिशत) थे। 1990 ई0 में स्थानीय एवं विशिष्ट कानूनों के अन्तर्गत दर्ज बाल अपराध के मामलों में तमिलनाडु का स्थान सबसे ऊपर (51. 77 प्रतिशत) रहा, जबकि उत्तर प्रदेश में ऐसे मामले नगण्य (0.3 प्रतिशत) रहे। 1989 ई0 में कुल बाल अपराधियों का (31.9 प्रतिशत) भाग लड़कियों का था, जबकि 1990 ई0 में यह प्रतिशत केवल 18.0 था।

बाल अपराध की दरें प्रारम्भ की किशोरावस्था (12–16 वर्ष) में सबसे ऊँची है। बाल अपराध एक ग्रामीण तथ्य होने की अपेक्षा नगरीय तथ्य अधिक है। दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, अहमदाबाद और बंगलौर जैसे महानगर छोटे शहरों और कस्बों की अपेक्षा अधिक बाल अपराधी उत्पन्न होते हैं। लगभग एक तिहाई (30.0 प्रतिशत) बाल अपराधी निरक्षर होते हैं, दो पंचम (41.0 प्रतिशत) प्राथमिक पास, एक चौथाई (24.0 प्रतिशत) मिडिल और सेकेण्डरी कक्षाएं पास किये होते हैं और बहुत ही कम संख्या (5.0 प्रतिशत) हाईस्कूल स्तर और उसके आगे तक शिक्षित होते हैं। लगभग आधे से कुछ कम (45.0 प्रतिशत) बाल अपराधी ऐसे घरों से आते हैं, जिनकी आय 501 से 1000 रूपये प्रतिमाह के बीच होती है। लगभग 15 प्रतिशत ऐसे घरों के होते हैं जिनकी आय 1001 से 2000 रू0 के बीच होती है, तथा सबसे छोटी संख्या (6.0 प्रतिशत) ऐसे घरों से होती है जिनकी आय प्रतिमाह 2001 से 3000 रू0 तक होती है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि बाल अपराध निम्न वर्ग यानि की बाल श्रमिकों में अधिक घटित होता है।

बाल अपराध के कारण या कारक (Causes or Factors of J.D.)

विभिन्न सामाजिक अध्ययनों में बाल अपराध के कारकों की पहचान करने का प्रयास किया गया है, जिसे निम्न प्रकार से चिन्हित किया जा सकता है:–

(अ) (1) भग्न अथवा नष्ट परिवार (I) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नष्ट परिवार (II) औतिक दृष्टि से नष्ट परिवार (2) दुर्व्यसन परिवार (3) अपराधी प्रतिमानों वाले परिवार (4) माता–पिता का शून्य व्यवहार (5) अनैतिक परिवार (6) सामाजिक प्रशिक्षण का अभाव (7) परिवार में निर्धनता (8) छोटा घर तथा गोपनीयता का अभाव।

(ब.) बाल अपराध के शारीरिक एवं व्यक्तिगतकारकः–
(1) शारीरिक असमान्यताएं (2) शारीरिक दोष (3) बीमारी (4) वंशानुक्रमण या पैतृकता (5) अपूर्ण आवश्यकताएं।

(स) बाल अपराध के मनोवैज्ञानिक कारकः–
(1) मानसिक हीनता (2) संवेगात्मक संघर्ष और अस्थिरता (3) कम बुद्धि वाले तथा बड़े बच्चे।

(द) बाल अपराध के सामुदायिक कारकः–
(1) बुरा पड़ोस (2) स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन का अभाव (3) स्कूल की परिस्थिति (4) नगरीकरण (5) आपत्तिजनक साहित्य (6) अपराधी क्षेत्र (7) युद्ध

(य) बाल अपराध के आर्थिक कारकः–
(1) निर्धनता तथा पराश्रयता (2) व्यापार चक्र (3) बेरोजगारी (4) निम्न सामाजिक आर्थिक स्थिति।

चुनौतियाँ और निराकरणः

देश को बालकों से जुड़े अपराधों के कलंक से निजात पाने के लिए बहुत ठोस कार्यक्रमों का क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। इस ओर विशेष ध्यान देकर विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगे बाल श्रमिकों की ठीक–ठीक संख्या, उनकी ठीक–ठीक आयु, पारवारिक स्थिति, शैक्षिक स्तर, कार्य के घंटे, कार्य की दशाएं, ठोस तथा पारिश्रमिक आदि की सही सूचनाएं संकलित की जानी अपरिहार्य है, तभी उनके पुनर्वास अथवा कल्याण की योजनाओं को मूर्त रूप किया जाना संभव हो सकेगा।

बालकों की समस्या तथा उनसे जुड़े अपराधों की समस्या का गंभीर कारण देश में व्याप्त अशिक्षा, गरीबी और बेरोजगारी है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने दिसम्बर 1996 के बाल श्रम से संबंधित निर्णय में बाल श्रम के लिए 'गरीबी' को उत्तरदायी मानते हुए कहा कि :जब तक परिवार के लिए

अपेक्षित कार्य–यंत्र के प्रावधान के विषय में प्रगति बहुत ही कम हुई है। स्वयं कुछ अधिनियमों में ही यह दोष रहा है कि उन्होंने आवश्यक कार्य यंत्र का प्रावधान ऐच्छिक ही रखा है। यह भी अनुभव हुआ कि इस प्रकार के कार्य यंत्र की व्याख्या कर पाने में असफलता होगी ऐसा पहले ही ज्ञात हो गया था क्योंकि एक निर्धारित स्थिति के कुछ न्यायालयों को एक बाल न्यायालय के अभाव में उपरोक्त नियम के प्रावधानों को लागू करने का अधिकार दिया गया। कुछ राज्यों में अब भी बच्चों को विचारण के लिए साधारण न्यायालयों में ही लाया जाता है। कुछ अन्य राज्यों में बाल न्यायालय तो स्थापित किये जा चुके हैं किन्तु उनका वातावरण ठीक प्रकार का नहीं है और वे प्रौढ़ न्यायालयों की ही भांति कार्य करते हैं। कहीं–कहीं बच्चों के विचारण का कार्य क्षेत्र संस्थापित बाल न्यायालयों को अन्य रूप से नहीं दिया गया है और अभियोजन को यह छूट मिली रहती है कि वह सामान्य आपराधिक न्यायालय में प्रस्तुत करें। इस प्रकार की व्यवस्था बाल–अधिनियमों का अभिप्राय कदापि नहीं हो सकती थी और आलेखन के सभी दोषों का निराकरण करना होगा।

(Smt. Sita Basu, "Juvenile Deliquency, After Care and Correctional Practices", in Seminans on Social Defene (1965)). P. 39.

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बाल अपराध के रोक और नियंत्रण के सभी पहलुओं के बारे में एक सही सरकारी नीति के लिए सूक्ष्म अन्वेषण पद्धतियों के द्वारा योजना एवं मूल्यांकन दोनों की आवश्यकता है।

सन्दर्भ–

1. Merton, Robert K., Social Theory and Social Structure, The Free Press, Glencoe Illinois, 1957.
2. Neumayer, Juvenile Delinquency, 1977.
3. Matza, David, Deliquency and Drift, John Wiley & Sons Inc; New York, 1964.
4. Gokhale, S.D.; Impact of Institutions on Juvenile Deliquents, United Asia Publications Ltd., Bombay, 1969.
5. Gibbons, Don C; Deviant Behaviour (2nd Edn.), Prentice-Hall Inc., Englewood Cliffs, N.J., 1976.
6. Gibbons, Don C; Deviant Behaviour (2nd Edn.), Prentice-Hall Inc., Englewood Cliffs, N.J., 1976
7. .क्रानिकल, 'भारत की सामाजिक समस्याएं, क्रानिकल पब्लिकेसंस, दिल्ली, 2005
8. मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, अग्रवाल, भरत, 'सामाजिक समस्याएँ' विवेक प्रकाशन, दिल्ली–2003

●●●●

*प्रवक्ता (समाजशास्त्र)
संत गणिनाथ राजकीय पी0जी0 कालेज
मोहम्मदाबाद, गोहना, मऊ।
शोध छात्र (समाजशास्त्र)
म0गाँ0काशी विद्यापीठ, वाराणसी

☞ शोधार्थियों से निवेदन है कि शोध-आलेख अधितम् 2000 शब्दों का ही भेजें, जो कि हिन्दी फान्ट Kruti Dev- 010 अथवा अंग्रेजी फान्ट Times New Roman में टाइप करें।

☞ शोध-आलेख की प्रिंट कापी तथा सी.डी. दोनों रूप के साथ अपना फोटोग्राफ भी अवश्य भेजें।

☞ शोध-आलेख प्रकाशन हेतु पत्रिका की आजीवन सदस्यता आवश्यक है।

शोध-3

वाराणसी में आव्रजित दक्षिण भारतीय समूह-एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

चिरंजीव कुमार ठाकुर*

प्रव्रजन एवं आव्रजन सामाजिक गतिशीलता की एक सहजात प्रक्रिया है। किसी व्यक्ति अथवा समूह के स्थान परिवर्तन के सन्दर्भ में जब एक जगह से दूसरी जगह के लिए यही क्रिया प्रव्रजन कहलाती है, जबकि नये स्थान पर स्थानान्तरित होना उसके सन्दर्भ में यही क्रिया आव्रजन कहलाती है। जहाँ तक वाराणसी में दक्षिण भारतीय लोगों के स्थानान्तरण की बात है तो इसके (वाराणसी के) सन्दर्भ में यही क्रिया आव्रजन कहलाती है, और इस क्रिया के फलस्वरुप यहाँ आये लोग आव्रजित कहलाते हैं।

यूं तो भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक राजधानी होने के कारण यहाँ सम्पूर्ण देश के लोगों का आगमन एवं निवास की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। परंतु प्रस्तुत अध्ययन को केवल दक्षिण भारतीय समूहों तक ही सीमित किया गया है। दक्षिण भारतीय समूहों की कुछ विशेष विशेषताएँ हैं जो उत्तर भारत की संस्कृति से उन्हें भिन्नता प्रदान करती है। परन्तु इसके उपरान्त भी उनका उत्तर भारत की ओर विशेषकर वाराणसी में आगमन एवं निवास सांस्कृतिक सम्पर्क एवं समायोजन की एक विशिष्ट दशा को प्रस्तुत करता है। जिसके महत्वपूर्ण पक्षों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

दक्षिण भारत से तात्पर्य सामन्यतः उन सभी प्रदेशों से है जो विंध्य पर्वत श्रृंखला के दक्षिणी क्षेत्र में स्थित है। भौगोलिक एवं राजनैतिक/प्रशासनिक दृष्टि से दक्षिण भारत के अन्तर्गत हम महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक आदि क्षेत्रों को सम्मिलित करते हैं। परन्तु जब सामाजिक सांस्कृतिक आधार पर विभाजन की बात आती है तो इसमें मात्र चार राज्यों को ही समाहित किया जाता है। महाराष्ट्र को एक मध्यवर्ती सीमा राज्य माना गया जहाँ उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत दोनों क्षेत्रों की संस्कृतियां सम्मिलित रुप से विद्यमान है। आव्रजित दक्षिण भारतीय लोगों को सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन का एक संक्षिप्त विवरण निम्नवत् प्रस्तुत है–

केरल : यह भारत के दक्षिण का एक अत्यन्त उपजाऊ एवं अनुपम रमणीय प्रदेश है। यहां के पुरुष मुँहु (धोती) और तोत्तर्तु (अंगोछा) मात्र पहनते हैं, जबकि महिलायें दो वस्त्र कमर से लपेटकर पहनती हैं। यहाँ के लोग मछली व चावल खाना अत्याधिक पसंद करते हैं। भोजन में कालन, ओलन, अवियल, साम्बर, कुटटुमारी, रसम, पच्चड़ी (खिचड़ी), एरिशेरी आदि विशेष प्रचलित है। यहाँ पर ओणम, तिरुवातिरा, विष आदि त्यौहार मनाया जाता है। यहां के ब्राह्मणों में सोलह संस्कार पाये जाते हैं अन्य जातियों में कम देखने को मिलता है। उच्च वर्ण में शव को जलाने एवं निम्न वर्ण में दफनाने की प्रथा है। मलयालम साहित्य में कथकलि एवं मोहनी अट्टम का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें अभिनय, नृत्य एवं संगीत तीनों का समन्वय है। यहां विशेष रुप से मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते है।

तमिलनाडु : तमिलनाडु मुख्य रुप से कृषि प्रधान प्रदेश है। अत्यधिक गर्मी पड़ने के कारण यहां के लोग काले होते हैं। यहां के पुरुष प्रायः सफेद लुंगी व सफेद कमीज पहनते है। स्त्रियां छः हाथ लम्बा और ढाई या तीन हाथ चौड़ा कपड़ा कमर से लपेट कर लांग लगाती है तथा ऊपर चोलियां या ब्लाउज पहनकर धोतिया ओढ़ लेती है। यहां चावल (शादम), साम्बर, इडली, ढोशे और करी एवं काफी भोजन के अंग है। यहां पोंगल विला, वरियाहु, वेलनकुत्तु आदि विशेष त्यौहार है। यहां के लोग बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। ये विष्णु, शंकर दुर्गा, काली की पूजा करते है। यहां पर पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। विश्व प्रसिद्ध भारतनाट्यम नृत्य तमिलों की ही देन है।

कर्नाटक : सांस्कृतिक दृष्टि से कर्नाटक का विशेष महत्व है। यहां पुरुष धोती या लुंगी पहनते है और कंधे पर तौलिया रखते हैं। महिलायें घुटने तक धोती पहन कर साड़ी को ही आंचल के द्वारा चोली की तरह लपेट लेती हैं। यहां का मुख्य आहार चावल एवं मछली है। इसके अतिरिक्त गंजी हुलि, इडली, काफी का भी प्रयोग करते है। युगादि, मण्णेस्तिन अमावास्से, आदि विशेष त्यौहार है। यहाँ का परम्परा पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार की रही है। यहां का संगीत जो कर्नाटक शैली का है विशेष रुप से विश्व प्रसिद्ध है।

आन्ध्रा : भारतीय सांस्कृतिक विकास एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों में आन्ध्रा का अपना एक विशेष स्थान है। यहां के पुरुष धोती एवं जुठवा एवं स्त्रियां साड़ियां एवं चोली पहनती हैं। यहां के लोग अट्टु, पीलू की चटनी के अतिरिक्त मांस, मछली एवं अण्डे का प्रयोग करते हैं। उगादि, संक्रान्ति आदि विशेष त्यौहार हैं। यहां के लोग विशेष रुप से मुण्डन, जातकर्म, विवाह एवं अन्तिम संस्कार ही मानते हैं। यहां का पारिवारिक संगठन पितृसत्तात्मक एवं संयुक्त है। कुचीपुड़ी यहां का विशेष नृत्य है।

दक्षिण भारत की संस्कृति आज भी अपनी मौलिकता बनाए हुए है, परन्तु उसका आधुनिकीकरण हो चुका है। वैश्वीकरण के इस दौर में बहुत सी संस्कृति केवल प्रदर्शन की वस्तु होकर रह गयी है। परन्तु ग्रामों में लोक संस्कृति आज भी जीवित है।

दक्षिण भारतीयों का वाराणसी से सम्पर्क : भारत की सांस्कृतिक राजधानी एवं बाबा विश्वनाथ की नगरी होने के कारण वाराणसी न केवल स्थानीय एवं क्षेत्रीय लोगों के आकर्षण का केन्द्र रहा है, वरन् सम्पूर्ण भारतीय एवं देश–विदेश के लोगों का भी गंतव्य स्थल रहा है। परम्परागत रुप से वाराणसी को महत्ता का मुख्य कारण इसकी धार्मिक उन्मुखता रही है, परन्तु वर्तमान समय में धार्मिक उन्मुखता के साथ–साथ उद्योग, व्यापार एवं रोजगार के अन्य साधनों की उपलब्धता भी लोगों के आकर्षण का कारण है।

जहाँ तक दक्षिण भारतीय लोगों का वाराणसी क्षेत्र में

आगमन, प्रवास या स्थानान्तरण की बात है तो इसके पीछे धार्मिक–सांस्कृतिक कारणों के अतिरिक्त शिक्षा व व्यवसाय आदि भी है। कुछ दक्षिण भारतीय लोग जो धर्म एवं पूजा–पाठ आदि से जुड़े हैं वे यहां पर धार्मिक गतिविधियों के सम्पादन के साथ–साथ तीर्थ यात्रियों के मार्ग दर्शन व्यवस्थापन एवं दर्शन–पूजन कराने के कार्य में संलग्न पाये गये हैं। इन धार्मिक गतिविधियों से जुड़े हुए दक्षिण भारतीय लोगों का मानना है कि जो महत्व मुस्लिम धर्मावलम्बियों के लिए काबा का है वही स्थान हिन्दुओं के लिए काशी का है। इस सन्दर्भ में दक्षिण भारतीय लोगों का यह विश्वास रहा है कि सांस्कृतिक आवागमन से मुक्ति हेतु अपने जीवन में न्यूनतम काशी का एक बार दर्शन अत्यन्त आवश्यक है जिसमें यहां पर ठहराव की अवधि नौ के किसी भी कालक्रम के गुणक में अनिवार्य है चाहे वह घण्टे में हो, दिवस में हो, सप्ताह में हो, महीना में हो या वर्ष में ही क्यों न हो। नौ के गुणक में प्रवास के अवधि की अनिवार्यता इसलिए रखी गयी है क्योंकि मानव का गर्भकाल नौ महीने का होता है और इससे मुक्ति भी इसी शर्त पर सम्भव है। इसी प्रकार से कुछ मोक्ष पिपासु दक्षिण भारतीय भी काशी प्रवास हेतु आते हैं और शेष जीवन यही रहकर समाप्त करना चाहते हैं। इन मोक्ष पिपासुओं को यहाँ के मन्दिरों या आश्रम में देखा जा सकता है।

परम्परागत रुप से लोगों का वैदिक ज्ञान के प्रति आकर्षण भी दक्षिण भारतीय लोगों का काशी प्रवास का कारण रहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य एवं धर्म की मूर्धन्य विद्वत परम्परा भी लोगों को आकर्षित करती रही है। वर्तमान समय में अनेक विद्या केन्द्रों जैसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, उच्च तिब्बती संस्थान एवं अन्य केन्द्र तथा राज्य सरकार की शिक्षण संस्था दक्षिण भारतीय लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र है।

वाराणसी की व्यापारिक मंडियों, उद्योग–धन्धे एवं व्यवसाय आदि दक्षिण भारतीयों को आकर्षित करती रही है। यहां की साड़ियाँ, कसीदायुक्त कपड़े और उससे जुड़े हुए व्यवसाय भी दक्षिण भारत के व्यापारियों एवं निवासियों को आकर्षित करती है। यहां के विस्तृत उद्योग, व्यवसाय एवं शिक्षण संस्थाओं की उपलब्धता भी दक्षिण भारतीय लोगों का रोजगार उपलब्ध कराती है। वाराणसी में स्थित डीजल लोकोमोटिव इंजन एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अनेक दक्षिण भारतीय को संलग्न देखा जा सकता है। इस प्रकार दक्षिण भारतीय लोगों का काशी से सम्पर्क का इतिहास अति प्राचीन काल से है। जिसे समय के प्रवाह ने अपने अनुरुप व्यवस्थित एवं रुपान्तरित किया है।

वाराणसी में दक्षिण भारतीय लोगों का सांस्कृतिक समायोजन : पूर्व के विवेचनाओं के आधार पर एक तथ्य जो सार्वभौमिक रुप से उभर कर सामने आती है कि सांस्कृतिक भिन्नता होने के बावजूद एक समरुपता परिलक्षित होती है। यद्यपि की वाराणसी में पाये जाने वाले पर्व–त्यौहारो, मेलों, उत्सवों आदि दक्षिण से भिन्नता रखते हैं तथापि दोनों के मूल तत्व अर्थात आस्था एवं विश्वास की प्रकृति समान ही है।

वाराणसी एवं दक्षिण भारतीय दोनों लोगों में शैव के साथ ही साथ वैष्णव मतावलम्बियों की भी कमी नहीं है। परम्परागत रुप से जहां वाराणसी मे छुआ–छूत, भेदभाव, अस्पृश्यता विद्याओं की समस्या आदि की उपलब्धता रही है, वही दूसरी ओर दक्षिण भारत में भी इन समस्याओं के साथ–साथ देवदासी प्रथा की भी बहुलता रही है।

विवाह एवं संस्कारों आदि के क्षेत्रों में भी कुछ विभेदा के उपरान्त भी समानता के रुप में परिलक्षित हुए हैं। उत्तर भारत में (वाराणसी क्षेत्र) जहां निषेधात्मक विवाह की प्रकृति अधिक देखी गयी है वही दूसरी ओर दक्षिण भारत में अधिमान्य विवाह की अधिकता देखी गयी है। जिसमें चचेरे, मौसेरे एवं ममेरे, फूफेरे भाई–बहनों में वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित करने की प्रमुखता दी जाती है। उत्तर भारत के तरह ही वैवाहिक सम्बन्धों के निर्धारण में गोत्र, प्रवर एवं पिण्ड के निषेध का समान रुप से पालन किया जाता है।

जहां तक वाराणसी परिक्षेत्र में दक्षिण भारतीयों की उपस्थिति एवं उनके सामन्जस्य की बात है तो इस सन्दर्भ में उन्हें काफी हद तक समायोजित होते देखा गया है। वाराणसी में दक्षिण भारतीयों द्वारा यहां की जीवन शैली अपनाने के साथ–साथ अपने क्षेत्रीय विशेषताओं एवं आस्थाओं को भी बनाये रखा है। उसके कुछ उदाहरण यहां पर स्थापित दक्षिण भारतीय शैली के मन्दिरों, मठों, धर्मशालाओं आदि की उपस्थिति को देखकर लगाया जा सकता है, जिनमें तिरुपति बालाजी (सिन्धिया घाट), कांचीकामकोठपीठ (हनुमानघाट), अय्यपा मन्दिर (हनुमान घाट), चितांमणि गणेश (केदार घाट), अन्नपूर्णादेवी मन्दिर (ज्ञानवापी) आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक धार्मिक आदि क्षेत्रों में वाराणसी एवं दक्षिण भारतीयों के बीच कुछ विभिन्नताओं के उपरान्त भी समानता के स्वरुप परिलक्षित होते हैं।

सन्दर्भ–

1. अवधनन्दन : 'तमिल साहित्य और संस्कृति', सत्साहित्य प्रकाशन नयी दिल्ली, 1958।
2. वेंकटेश्वर, एन : केरल संस्कृति, दक्षिण भारत हिन्दी सभा, मद्रास, 1972।
3. शैरिराजन, र0 : 'तमिल संस्कृति', दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास 1970।
4. श्रीनिवास, एम0एन0 : रेलिजन एण्ड सोसाइटी एमंग दि कूर्ग्स आव साउथ इण्डिया', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बें, 1965
5. पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद : 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास', उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ 1976।
6. नरसिंहाचार्य, मु0 : 'आन्ध संस्कृति', दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास 1970
7. चुल्की मठ, शरेश्चन्द : 'कर्नाटक–संस्कृति', दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास 1973।
8. कर्वे, इरावती : 'भारत में बन्धुत्व संगठन', राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1973
9. Devadasi Cult : A sociological Analysis, Jogan Shankar 1990, SB Nagia for Ashish Publishing House.

●●●●

शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग
सामाजिक विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-4

एक विचारधारा के रूप में उभरती नक्सलवादी संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

देवकीनन्दन भट्ट*

The Naxalite appeared in West Bengal in 1967. It got impetus in 1969 when CPI (ML) was born at the instigation from china which was interested in weakening India. The theoretical backing for Naxalite thought came from the Ninth Congress of the Communist Party of china held in April 1969, when Mao's thought were declared to be the highest stage of Marxism-Leninism. Using these thoughts the Naxalite leader, Charu Mazumdar had declared **"China's chairman is our Chairman."** From West Bengal, the naxalite movement spread to Bihar to fight for the landless labour. However , charu mazumdar's call for annihilation of class enemies did not get much response from the peasantry class & educated middle class, though many idealistic young naxalite men & women enjoyed killing landlords, money Landers & police officers. Between 1969 & 1972, about thousand persons were killed & there were 700 cases of looting & 9,000 acts of other violence by the naxalites. After 1972, the naxalite movement spread from West Bengal & Bihar to Andhra Pradesh, Kerala, Orrisa, Tamil Nadu & Tripura. Now it has spread almost whole India. The exploited poor & the tribals continue to follow naxalite terrorism for protecting themselves for ex-zamindars, money lenders & other exploiters. The government deals with this naxalite terrorism purely as a problem of law & order. In fact it is a major social problem.

In the following research paper I have tried to focus on the arising culture of naxalite culture & the way of solution. Data & other sources of literature are basically secondary. In the present context, it is of much importance to study & search the solution for naxalite for the growth of Indian economy.

कार्ल मार्क्स, लेनिन, माओत्सेतुंग एवं चेग्वेरा जैसे क्रान्तिकारियों ने विश्व में साम्यवाद को एक विशेष पहचान प्रदान की। नक्सलवाद को मार्क्स ने चिन्तन तथा माओ के प्रायोगिक अनुभवों से अनुप्राणित मजदूरों, गरीबों एवं वंचितों के उग्र संघर्ष की विचारधारा के रूप में तत्कालीन बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने मान्यता दी कामोवेश यह सत्य भी प्रतीत होता है। आज यह विचारधारा के रूप में स्थानीय स्तर से प्रसरित होकर राष्ट्रव्यापी स्वरूप धारण कर चुका है। ज्ञातव्य है कि सन् 1967 में उत्तरी बंगाल में एक छोटे से गॉव नक्सलवाडी में जल, जंगल और जमीन को लेकर इस विवाद का जन्म हुआ जो अब दावाग्नि, बडवानल और आँधी–बवडंर का रूप ले चुका है। इस विवाद का स्वरूप

दिनों–दिन तीव्र एवं गहन होता चला जा रहा है। ग्रामीण क्षेत्र से उठकर हिंसा और आतंकवाद की यह लपट विद्रोह का वात्याचक्र बड़े–बड़े नगरों तक पहुँच चुका है। एक राज्य से या चक्रवात कई राज्यों में अपनी आगाज दे चुका है। सरकारी तन्त्र से विद्रोह से लेकर वर्तमान में इसका रूख आम नागरिक तक हो चुका है। कई आतंकवादी गुट आपस में गठबंधन करके नक्सली हिंसा की लपटों को और भभकाने के लिए उसमें उग्रवाद का करायल झोंक रहे हैं।

आजादी के पश्चात् संवैधानिक प्रावधानों के माध्यम से समाज में समानता स्थापित करने हेतु सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्तरों पर विशेष प्रयास किए गये जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1967 में बंगाल के दार्जिलिंग जिले के नक्सलवाड़ी गाँव में भूमिहीन किसानों के द्वारा भू–स्वामियों के विरूद्ध आन्दोलन हुआ। यही नक्सली आतंक का प्रारम्भिक बिन्दु है।

इस विचारधारा का प्रेरक तत्व भूमिहीन किसानों के हितों की रक्षा करना था। यह हित जल, जंगल और जमीन के अधिकार में सन्निहित था। इसमें अनेक बौद्धिक उन्मेषों का प्रवेश हुआ। प्रारम्भ में वर्गगत पृष्ठभूमि में श्रमिक चेतना का तीव्र समर्थन प्राप्त हुआ। इस वर्ग ने अपने सामाजिक–आर्थिक उत्थान हेतु हिंसा विधि अपनाते हुए प्रशासनिक तंत्र से प्रतिशोध का मार्ग चुना। मुख्य संस्कृति से विलग अधिसंख्य क्रियाशील मानवीय शारीरिक श्रमिकों, शोषितों एवं पराश्रितों की इस उपसंस्कृति ने कुछ प्रतिमानों का निर्धारण किया जिसका अनुपालन समूह की भौतिक आवश्यकता की पूर्ति में कारगर साधन के रूप में स्वीकार किया गया।

इस प्रकार समाज में दो प्रकार की वैचारिकी का बोल–बाला कायम हुआ। यद्यपि दोनों की भूमिका अपने–अपने समूह के सदस्यों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु आवश्यक थी, तथापि दोनों में पारस्परिक वैमनस्य की स्थिति विद्यमान थी । नक्सलवादी संस्कृति अपने विकास के स्थान पर कुचल दी गयी। परन्तु इसका विस्फोट पौराणिक गाथाओं की भाँति अनेक स्थानों पर तीव्र गति से हुआ।

वर्तमान परिवेश में अपनी सशक्त पैठ बना लेने के कारण नक्सलवाद शोषितों एवं पराश्रितों की "क्रान्तिकारी संस्कृति " के रूप में अपनी पहचान बनाये हुए है। इसकी स्वयं की एक सुदृढ़ वैचारिकी स्थापित हो चुकी है, जिसके प्रेरणास्रोत चारूमजूमदार रहे। इनका मत था कि "नक्सलवाद एक उच्चस्तरीय वर्ग संघर्ष एवं गुरिल्ला युद्ध की शुरूआत है।" वे भारत के प्रत्येक कोने को ज्वालामुखी की भाँति मानते हैं, जो फटने वाले हैं। अतः क्रान्ति से ही

लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। उन्होंने अपने संवर्ग को आदेशात्मक शैली में हथियार उठाने की प्रेरणा दी। ''कहीं भी और सभी जगह फैलो'' यह उनका संदेश था। नक्सलवादी संगठन के सदस्यों में पारस्परिक घनिष्ठ एकजुटता एवं सौहार्द्र की भावना पाई जाती है। इनकी व्यवस्था के प्रमुख प्रतिमानों को इस रूप में समझा जा सकता है: '' माँग करने के स्थान पर लूट–मार'', ''हताश होने पर नरसंहार'', ''द्वेष की अभिव्यक्ति हिंसा के माध्यम से'', ''क्रान्ति से लक्ष्य प्राप्ति'', ''सत्ता बंदूक की नली से''।

उपरोक्त प्रतिमानों को ध्यान में रखते हुए इस सन्दर्भ में कुछ स्वीकारात्मक प्राक्कल्पनाएँ इस प्रकार हैं :

1. अभावग्रस्तता की स्थिति के परिणाम स्वरूप नक्सलवाद को बढ़ावा मिला है।
2. सत्तासीन समूह द्वारा भौतिक अहं की संतुष्टि ने नक्सलवाद की पृष्ठभूमि का सृजन किया है।
3. नक्सलवाद की वैचारिक अवधारणा अपने समूह की भूमिका के प्रति तीव्र लगाव की परिणति है।

अध्ययन से सम्बन्धित कुछ निषेधात्मक प्राक्कल्पनायें इस प्रकार हैं :

1) नक्सलवाद का उदय धर्मांधता के कारण नहीं हुआ है।
2) नक्सलवाद की आनुवंशिकता में प्रजातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, जातिवाद, आदि का कोई शुक्राणु नही है।

उपरोक्त स्वीकारात्मक प्राक्कल्पना के समर्थन में प्रस्तुत कुछ तथ्य इस प्रकार है: सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक विषमता के कारण शोषित और पीड़ित वर्ग में अभावबोध की सृष्टि होती है। अभावबोध क्रमशः कुंठा, नैराश्य एवं आक्रामकता का कारण है। अभावबोध, उपेक्षा, साधनहीनता, विपन्नता, समाजिक निम्नस्तरीयता, साधनसम्पन्न वर्गों द्वारा भेदमूलक एवं हेयतापरक व्यवहार जैसी समस्याओं से जूझते व्यक्ति, समूह एवं समुदाय अपना अलग संगठन बना लेते हैं जिसकी एक पृथक संस्कृति होती है। इस संगठन के सदस्यों में अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु नक्सली आतंक की राह का अनुसरण किया जाता है। इनमें यह वैचारिकी क्रियाशील रहती है कि संघर्ष, क्रान्ति आदि में मृत्यु हो गई तो समस्याओं से मुक्ति मिलेगी और संग्राम में विजय मिली तो समस्याओं का समाधान मिलेगा। आक्रामकता और विद्रोह की इस ज्वाला को बढ़ाती है ईर्ष्या एवं द्वेष जैसी मनोवृत्तियॉ जिनका उद्भव अभावग्रस्तता के कारण हुआ है एवं जिसकी परिणति नक्सलवादी संस्कृति में है। नक्सलवादी विचारधारा वर्तमान में तृतीय सोपान में अवस्थित है। अपने स्फुरण के काल में इसका विरोध स्पष्टतः सत्तासीन समूह से था। द्वितीय सोपान के अन्तर्गत 1990 के आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया से वैश्वीकरण को बढ़ावा मिला जिसने पराश्रित एवं सत्तासीन समूह के बीच की खाई को बढ़ाया। परम्परागत जीवन–प्रतिमान एवं आधुनिक नियमों तथा उनकी संस्थाओं के मध्य अन्तर के परिणाम स्वरूप संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। अभावग्रस्तता का वर्तमान संवर्ग की राजनैतिक गतिशीलता के इन्तजार में है, इसका एकमात्र उददेश्य सम्पूर्ण राष्ट्र को आगोश में लेना है। इसमें विकास की प्रक्रिया के प्रति तीव्र क्रोध एवं अमर्ष है। यदि यह संस्कृति इसी प्रकार से फलती फूलती रहे तो वह दिन दूर नहीं जब पूरा भारत लाल हो जायेगा।

नक्सलवादी संस्कृति का आधारस्तम्भ हिंसा, हत्या, प्रतिशोध और सत्ता की राजनीति का खेल है। जो व्यक्ति, सेना या अधिकारी उनके इस इरादे के आड़े आते हैं उसका अंत कर दिया जाता है। कई तरह के उतार–चढ़ाव एवं विनाश की मार झेलने के बावजूद भी यह संस्कृति सक्रिय भूमिका निभा रही है। माओ के दर्शन में विश्वास रखने और उसके अनुसार कार्यवाही करने वाले नक्सलियों ने आतंकवादी तरीको का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया जो कि वर्तमान में गंभीर चुनौती बनकर खड़ा है।

सुमन्त बनर्जी का कहना है कि पश्चिम बंगाल में यूनाईटेड फ्रंट सरकार 1968 को अस्तित्व में आई लेकिन वह पूर्व घोषित एजेण्डे के अनुरूप भूमि–सुधारों को गरीब एवं भूमिहीन किसानों के पक्ष में लाने और साहूकारों एवं महाजनों के पुराने ऋणाग्रस्तता के बोझ को समाप्त करने में असमर्थ रही। परिणामतः एक तरफ दबे–कुचले किसानों का वाम मोर्चा से तेजी से भ्रम टूटता जा रहा था, वहीं दूसरी तरफ सी.पी. आई (एम.) में ''अतिबाम'' का प्रतिनिधित्व करने वाले सिलीगुड़ी के दानता चारू मजूमदार एवं कानू सन्याल ने आर्थिकवाद से परे कृषि श्रमिकों के राजनीतिकरण की आवश्यकता पर बल दिया।

नक्सलवादियों का आधारभूत विश्वास है कि समाज में आवश्यक एवं मनोवांछित परिवर्तन शान्तिपूर्ण राजनैतिक प्रक्रियाओं से नहीं लाया जा सकता, क्योंकि निहित स्वार्थ सत्ताधरियों के व्यवहारों को नियंत्रित करता है, उद्योगों के पहियों को नियमित करता है और कृषि–अर्थव्यवस्था पर सामन्ती शासन करता है। ऐसी स्थिति में शस्त्र संघर्ष गुरिल्ला युद्ध ही एकमात्र उपाय है। नक्सलवादी आन्दोलन का मुख्य आधार निम्न जाति एवं उच्च जाति, अभिजात एवं अनभिजात, उच्च भूमिपतियों एवं भूमिहीनों के बीच वर्ग–विद्वेष व वर्ग–संघर्ष है। हत्या, लूट–मार, सम्पत्ति तथा भू–सम्पत्ति पर जबरन कब्जा द्वारा राज्य में अस्थिरता पैदा करना नक्सलवादियों का महान् धर्म है।

भारत में नक्सलवादी हिंसा की वर्तमान स्थिति–

विगत पाँच वर्षो (2001–2005 के दौरान नक्सली हिंसा एवं परिणामगत मृत्यु का ग्राफ अधोलिखित है:–

सारणी सं0 1

सन्	हिंसा	मृत्यु
2001	1208	564
2002	1465	482
2003	1597	512
2004	1533	566
2005	1594	669

भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने यह स्वीकार किया है कि 9 राज्यों के 76 जनपदों में नक्सली आन्दोलन बुरी

तरह से फैल चुका है। इन राज्यों के अन्तर्गत आन्ध्रप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश महाराष्ट्र, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उत्तर प्रदेश एवं पश्चिम बंगाल अन्तर्विष्ट हैं। गृह–मंत्रालय की यह भी सूचना है कि ''पीपुल्स वार ग्रुप'' एवं ''एमसीसीआई'' संगठन अपने प्रभाव को तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल एवं पूर्व प्रभावित राज्यों के अतिरिक्त अन्य नये राज्यों के क्षेत्रों में भी फैलाने का प्रयास कर रहा है।

नक्सलवाद के उद्भव के हेतुकीय कारक:

नक्सलवादी घटनाओं के प्रसार का कोई एकांकी कारण उत्तरदायी नहीं है बल्कि इसके कई कारण हैं, फिर भी नक्सलवादी आतंकीय कृत्यों के लिए निम्नलिखित तीन कारणों का उल्लेख किया जा सकता है।

1 समाज में शोषण करने वाली संरचनाओं को समाप्त करने में जनतान्त्रिक राज्य की असमर्थता ।
2 पद्दलितों की सहायता करने की राजकीय अक्षमता।
3 अपने वैचारिकीय अन्तरों को विस्मृत कर क्रान्तिकारी शक्तियों का एकीकरण ।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि नक्सलवाद की सृष्टि संरचनात्मक असमानता, समाजिक आर्थिक विषमता और समाजिक अन्याय के परिणाम स्वरूप हुई है। नक्सलवादी आन्दोलन का तीव्र प्रसार तब हुआ जब दो वृहद क्रान्तिकारी दल पी.डब्लू.जी. और एम.सी.सी.आई का माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के रूप में 21 सितम्बर 2004 में एकीकरण हो गया।

नक्सलवाद के उद्भव के सहायक कारक:

उपर्युक्त तीनों कारकों के अतिरिक्त इस आन्दोलन के कतिपय सहायक कारक भी हैं जिनकी इसके प्रसार में महनीय भूमिका है। ये निम्नलिखित है –

1. गलत सामाजीकरण या सामाजीकरण का अभाव, 2. दुर्बल अनुशास्तियॉ, 3. कानून के प्रवर्तन में कमी, 4. तार्किकीकरण की सरलता, 5. आदर्शमानक का अनिश्चित सीमा–विस्तार, 6. उल्लंघनकारी व्यवहार की गोपनीयता, 7. अनुचित या भ्रष्ट ढंग से कानून का प्रवर्तन, 8. उत्पीड़ित व्यक्ति का सहयोग या उदासीनता, 9. समाजिक नियन्त्रण की अभिकर्ताओं की द्वैधवृत्ति, 10. उपसंस्कत द्वारा वैधीकरण, 11. विपथगामी समूहों के प्रति वफादारी की भावना।

ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रत्येक समाज में कुछ समूह समाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में अन्य समूहों की तुलना में सामाजिक संसाधनों का एक समान उपयोग नहीं कर पाते और वे वंचित रह जाते हैं। वंचन के फलस्वरूप असंतोष पैदा होता है और जब इस असंतोष का राजनीतिकरण हो जाता है तो यह हिंसा के रूप में प्रकट होता है, नक्सलवादी इसी असंतोष का प्रतिफल है।

यदि वर्तमान परिदृश्य में नक्सलवाद के मूल में गवेषणा करें तो स्पष्ट होता है कि वर्तमान में नक्सलवाद अस्पष्ट पड़ते धुँधले लक्ष्य की ओर अपनी विचारधारा की डगर से दूर लड़खड़ाते कदमों से चलता हुआ मात्र हिंसक गतिविधियों का समुच्चय भर रह गया है। इस सन्दर्भ में इसकी दैनिक चर्या आम नागरिकों के विकास में रोड़ा बनकर खड़ी है। जिन कारणों से नक्सलवादी संस्कृति को बढ़ावा मिला दुर्भाग्यवश वे सभी आज भी मौजूद हैं। प्रायः गरीबी बनी हुई है। भूमि सुधारों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जा रहा है। आदिवासियों के साथ सामान्यतः अच्छा व्यवहार नहीं हो पाता है। दूर दराज के इलाकों में सुशासन की हालत पतली है। सरकार ने इस समस्या से निपटने के लिए एक व्यापक 14 सूत्रीय योजना तैयार की है। इस योजना में नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में आर्थिक सामाजिक विकास पर विशेष जोर दिया जा रहा है। और राज्य सरकारों को निर्देश दिए गए हैं कि वे भूमि सुधार तेजी से लागू करें। बुनियादी सुविधाओं का विकास तथा पिछड़े एवं दूर दराज के इलाकों में युवा वर्ग को रोजगार देने की योजना है।

समायोजन कैसे ? इस प्रकार की विपथगामी धारा (नक्सलवादी संस्कृति) को मुख्यधारा (भारतीय संस्कृति) में संस्थापित करने हेतु निर्णयात्मक रूप से यथाशीघ्र ऐसी संस्थाओं एवं प्रतिचारों की रचना करना चाहिए जो केवल प्रतिहिंसा तक सीमित रहे वरन् नियंत्रण करने और आवश्यक हो तो उनकी सहायता करने के लिए भी सतत् प्रयत्नशील रहें। स्थानीय जनसमूह को विश्वास में लेते हुए उपेक्षित समूह के साथ दृढ़ता एवं संवेदनशीलता दोनों के मिश्रण से उनमें सुलगने वाले अंगारों को समझने हेतु सहानुभूति पूर्ण वार्ता केन्द्र स्तर पर की जानी चाहिए। शिक्षा, स्वास्थ्य एवं बुनियादी सुविधाओं का विस्तार करके सामाजिक आर्थिक असमानता को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार नक्सलवादी विचारधारा (नक्सलवादी संस्कृति) का शमन अवहेलना के बजाय उनकी समस्याओं पर सहानुभूति पूर्वक विचार करके किया जा सकता है।

सन्दर्भ–

1. त्रिपाठी वंशीधर, 2008 ''अध्याक्षीय भाषण से राष्टीय संगोष्ठी ''भारत, में बढता हुआ नक्सलवाद'' 24–25 फरवरी, 2008 में प्रस्तुत।
2. बनर्जी, सुमन्त, 1999 (सम्पा0) : श्रीकिंग स्पेश : माइनारटी राइट्स इन साउथ एशिया, नेपाल (ललितपुर) साउथ एशिया फोरम फॉर ह्यूमन राइट्स।
3. सिंह, श्यामधर 2008 '' भारत में नक्सलवादी आन्दोलन की उभरती आतंकवादी प्रवृत्तियाँ, ''सेमिनार प्रपत्रः राष्ट्रीय संगोष्ठी ''भारत में बढता हुआ नक्सलवाद'' 24–25 फरवरी, 2008 में प्रस्तुत।
4. स्रोतः गुहमंत्रालय की वार्शिक रिपोर्ट 2005–2006:
5. Marawah, Ved 1996: Pathology of Terrorism in India, Dehli.
6. Naumihal , Singh 1989: The World of Terrorism, New Delhi: South Asian Publishers.

●●●●

संविदा अध्यापक (समाज शास्त्र)
एन0 टी0 पी0 सी0 परिसर, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
शक्तिनगर, सोनभद्र, उत्तर प्रदेश

शोध-5

कला के विकास में बौद्ध धर्म का योगदान

सीमा जायसवाल*

भारतीय कला के विकास में बौद्ध धर्म का विशेष योगदान है। बौद्ध विहारों, स्तम्भों, स्तूपों, स्मारकों आदि के निर्माण से स्थापत्य कला, मूर्तिकला एवं चित्रकला की नवीन शैलियों का विकास हुआ। मथुरा एवं गांधार कला इसके उदाहरण हैं। साँची, भरहुत, अमरावती, नागार्जुनकोण्डा के स्तूपों, कार्ले, भाजा, अंजीता, ऐलोरा की बौद्ध गुफाओं एवं अशोक के स्तम्भों की गणना भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरणों में की जाती है।

बौद्ध साहित्य से प्रभावित होकर भारतीय कला की सामग्री वैसी ही समृद्ध है, जैसी भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की। भारतीय कला के वातायन द्वारा हम यहाँ मूर्तियों, चित्रों, गुफाओं, स्तूपों और स्तम्भों का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और उनमें छिपी हुई मानसिक कल्पना एवं प्रतिभा से परिचित हो सकते हैं।[1]

भारतीय कला विश्व कला के मंच पर अपना पद प्राप्त काफी देरी से प्राप्त कर पाई, किन्तु अब उसका सौन्दर्य और अर्थ विद्वानों, इतिहासकारों और रसिकों के मन में पूरी तरह बस गया है। स्तूप के महास्वरुप का जनता के मन पर बहुत प्रभाव होता था। लोक में उसे महापुरुष का साक्षात् प्रतीक मानते थे, जिसकी शरीर धातु स्तूप के गर्भ में मंजूषा या निधान कलश में रखी जाती थी। विद्वानों की दृष्टि में स्तूप गूढ़ विश्व रचना का प्रतिरुप था।[2]

लोक की धार्मिक परम्परा एवं भावना के मंथन से ही स्तूप का जन्म हुआ। इसके निर्माण में अनेक प्राचीन भारतीय लोक धर्मों ने सहयोग दिया। भरहुत और साँची जैसे महास्तूपों की रचना कोई साधारण बात न थी। इसके लिए बहुत बड़ा संगठन आवश्यक था। स्तूप की सजावट में अनेक धार्मिक मान्यताओं का योगदान देखा जाता है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण का चिन्ह स्तूप है जिसकी पूजा कुछ लोग कर रहे हैं। सात मानुषी बुद्धों के स्तूपों और बोधिवृक्षों का अंकन साँची में भी भरहुत के समान किया गया है। भरहुत स्तूप विभिन्न सजीव दृश्यों एवं आकर्षक अलंकरणों के कारण मानव हृदय की सौन्दर्य पिपासा को शांत करती हुई तत्कालीन भारत की उत्कृष्ट कला परम्परा का सुन्दरतम् रुप प्रस्तुत करता है।[3]

स्तूप का सम्बंध प्रायः बौद्ध धर्म से माना जाता है। स्तूप का निर्माण पाषाण कुट्टिम शिलाओं की नींव पर किया जाता था। चबूतरे के ऊपर बिछाए हुए शिलापट्टों और औंधे कटोरे की आकृति या लम्बोतरे बुदबुद की आकृति का एक थूहा बनाया जाता था, जिसे 'अंड' कहते थे। इसका संकेत इसी शब्द में निहित है। आरम्भ में स्तूप के व्यास और उसकी ऊँचाई का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता था।

स्तूपों की ऊँचाई में वृद्धि होती गई और स्तूप का आकार बुदबुद या अण्डे के समान ऊँचा होता गया। जब अंड की ऊँचाई बढ़ती गई तब स्तूप के आकार की तुलना महाबुब्बुल या पानी के बुलबुले से की जाने लगी। स्तूप की चोटी अपनी गोलाई पूरी न करके सिरे पर कुपुटी हुई बनाई जाती थी। उसी चपटे भाग पर स्तूप का सबसे महत्वपूर्ण भाग रहता था जिसे 'हर्मिका' कहते थे। इसका अर्थ देवताओं का निवास स्थान या दैव सदन है।

भरहुत स्तूप : भरहुत गाँव ऊचहरा स्टेशन से 6 मील उत्तर–पूर्व में तथा सतना स्टेशन से 6 मील दक्षिण है। यह प्रयाग तथा सतना स्टेशन से 9 मील दक्षिण है। यह प्रयाग से दक्षिण–पश्चिम की दिशा में 120 मील था और वहाँ से चेदि (जबलपुर) की ओर जाने वाले प्राचीन यात्रा पथ के लगभग मध्य बिन्दु पर था।[4]

भरहुत स्तूप का व्यास 67 फुट 8.5 इंच था पर जब 1873 ई0 में कनिंघम ने उसे देखा तो लगभग पूरा स्तूप नष्ट हो चुका था या आसपास के ग्रामवासी उसे खोदकर ले जा चुके थे। केवल एक ओर छोटा सा 6 फुट ऊँचा भाग बच गया था। दक्षिण–पूर्व के इस अवशिष्ट भाग में दीये रखने के आले (दीपालय) बने हुए थे। स्तूप के चारों ओर की दीप पंक्ति के इन आलों के स्थानों की संख्या 100 थी जिनमें कुल मिलाकर 600 से ऊपर दीपक जगमगाते थे। स्तूप पक्की ईंट से बना हुआ था। स्तूप के चारों ओर भूमि पर बनी हुई बड़ी वेदिका थी जिसमें तोरण द्वार थे।[5]

महास्तूप के वास्तु की कल्पना एक महान दिक् स्वस्तिक के रुप में की गई थी जिसमें चक्राकार वेदिका के चार भाग और चार तोरण द्वार दिशाओं की दृढ़ सत्ता के सूचक थे।[6] कालान्तर में जब स्तूप के वास्तु का विकास हुआ तब भी चार दिशाओं का अव्यक्त प्रभाव उसके स्वरुप पर बना ही रहा, जिसके कारण चार दिशाओं में बुद्ध की चार प्रतिमाएँ हैं और बोधिसत्व तथा अन्य देवों की मूर्तियाँ बनाई जाती रहीं। वेदिका के स्तम्भ एकाश्मक या एक ही पत्थर से बने हैं। स्तूप में बौद्ध धर्म और आख्यानों के भी अनेक दृश्य हैं।

खम्भों पर तीन पंक्तियों में बुद्ध के जीवन दृश्य अंकित हैं, जैसे राजा अजातशत्रु द्वारा बोधिवृक्ष की वंदना कोसल के राजा प्रसेनजित द्वारा धर्मचक्र आम्र वन में आकर उसकी पूजा करना, अनाथपिण्ड द्वारा जेतवन क्रम, जंगली हाथियों द्वारा गौतम बुद्ध के बोधिसत्व अशवत्थ और काश्यप बुद्ध के बोधिवृक्ष न्यग्रोध की पूजा आदि।[7]

साँची स्तूप : साँची विदिशा से केवल 5 मील है। वेवती और विदिशा नामक नदियों के संगम पर दशार्ण देश की प्राचीन राजधानी विदिशा मथुरा से प्रतिष्ठा जाने वाले महापथ और प्राचीन व्यापारिक केन्द्र था। आजकल उसे भेलसा कहते हैं और रेल लाईन वहाँ से होकर गई है। वह पूर्वी मालवा का सबसे बड़ा स्थान था। अतएव उसे महाचैत्यों के निर्माण के लिए उपयुक्त समझा गया। विदिशा के पास एक और साँची की पहाड़ी पर बौद्ध भिक्षुओं ने अपने विहार एवं स्तूपों का

निर्माण किया।

साँची में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तीन स्तूप (स्तूप संख्या–1, 2 और 3) हैं। इनमें स्तूप संख्या–3 में बुद्ध के सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन नामक दो शिष्यों के अस्थि अवशेष और फूल सुरक्षित हैं। स्तूप संख्या–1 और 3 खास टीले पर है और स्तूप संख्या–2 पहाड़ी के पश्चिम की ओर है। पहाड़ी पर दो बेसर आकृति के चैत्य घर भी थे, जिनकी नींव बच गई है। साँची के महाचैत्य या महास्तूप त्रिमेधि स्तूप था।[8] स्तूप, चैत्य, विहार, मठ आदि बौद्ध कला के संगम है। वे भारतीय स्थापत्य के भी आरम्भिक उन्नत एवं स्थायी आधार हैं।[9]

मथुरा कला : उत्तरी भारत में मथुरा कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। उसकी समृद्धि का मुख्य समय पहली शती ईस्वी से लेकर तीसरी शती ईस्वी तक था किन्तु उसके बाद भी लगभग 400 वर्ष अर्थात् चौथी–सातवीं शती तक मथुरा के शिल्प वैभव का युग बना रहा। कुषाण काल में शिल्प–कर्म और प्रतिमा निर्माण के लिए मथुरा की ख्याति दूर–दूर तक हो गयी थी।

सौन्दर्य की दृष्टि से मथुरा के कुशल शिल्पी और भी आगे बढ़े। ब्रह्म रुप निर्माण और भीतरी भागों में उन्होंने जो समन्वय स्थापित किया उसकी तुलना अन्यत्र नहीं है। उनके हाथों में शिल्प कला सचमुच ललित कला बन गई और उसकी शोभा का मानदण्ड बहुत ऊँचा उठ गया।

कला शैली के विषय में मथुरा के कुशल शिल्पियों ने मूर्तियों के सम्मुख दर्शन का आग्रह त्याग दिया और वे पार्श्वगत, पृष्ठगत आदि कई प्रकार के स्थान या मुद्राओं में पुरुष और स्त्रियों का चित्रण करने लगे। स्त्रियों की सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ने में उन्होंने विशेष रुचि दिखलाई। स्त्री मूर्तियाँ पृष्ठभूमि से उर्ध्व निर्गम के साथ खम्भों पर गढ़–गढ़ कर काढ़ी गई है।[10]

मथुरा शिल्प के अलंकृत विषयों को जब हम देखते हैं तो उनकी मौलिकता और विविधता की गहरी छाप मन पर पड़ती है और शिल्पियों की प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जाता। मथुरा के शिल्पियों ने बुद्ध प्रतिमा के रुप में विश्व कला की सबसे बड़ी विशेषता प्रकट करके दिखाई। उन्होंने पहली बार बुद्ध को मानव के रुप में प्रदर्शित किया। बौद्ध धर्म के प्रचार में उससे बड़ी सहायता प्राप्त हुई। पुराने चैत्यगृहों और उनके मुख मण्डल नई–नई बुद्ध प्रतिमाओं से भर दिये गये।[11]

गांधार कला : गांधार भौगोलिक नाम ऋग्वेद से आता है। वहाँ 'गांधारि' का अर्थ है गांधार के निवासी और विशेषतः गांधार की मोटे ऊन वाले भेड़ का उल्लेख किया गया है। इसी नाम को अथर्ववेद में भी दोहराया गया है किन्तु ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में 'गांधार' नाम है, जो शिल्पाचार्यों की सूची में गांधार के नग्नसित् के लिए हैं।

बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं से सम्बद्ध मूर्तियाँ इस कला के केन्द्रीय विषय हैं। गांधार कलाकारों ने बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बद्ध लगभग 61 दृश्यों का प्रतिमांकन किया है। गांधार एवं मथुरा कला में मुख्य विभेद मौलिक सिद्धान्तों में है। मथुरा कला या भारतीय कला आदर्श प्रधान है किन्तु गांधार कला ने आदर्श से बढ़कर वास्तविकता की ओर अधिक ध्यान दिया। यह गांधार में ही सम्भव है कि महात्मा बुद्ध की वह मूर्ति बनी जिसमें महनी उपवास के पश्चात् उनके जीर्ण–शीर्ण कंकालमय शरीर को प्रदर्शित किया है।[12]

बौद्ध धर्म के महान संरक्षक सम्राट अशोक के समय चित्रकला की क्या स्थिति थी? इस सम्बंध में कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि उसने बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए कला के माध्यम का भी प्रयोग किया था।

भारत की सतत् एकरुपता एवं स्थिरता के कारण विश्व में उसका एक विशिष्ट स्थान बना और जहाँ एक ओर उसने समय–समय पर विभिन्न देशों से उनके उच्च आदर्शों को ग्रहण किया, वहीं दूसरी ओर उन्हें अपनी प्रज्ञा, संस्कृति तथा कला की उदात्त विरासत भी प्रदान की।

इस दृष्टि से बौद्ध कला का विशेष महत्व है। बौद्ध धर्म के उदय और उसका प्रचार बहुत पहले ही हो चुका था, किन्तु बौद्ध चित्रकला का उदय लगभग पहली शती ई0 में हुआ। बौद्ध कला में एक ओर जहाँ धर्म की पवित्र भावना से ओत–प्रोत होकर देवी–देवताओं का व्यापक रुप में अंकन एवं चित्रण हुआ है, जिनमें अधिकता बुद्ध तथा बोधिसत्वों तथा तत्सम्बंधी कथाओं की है, वही दूसरी ओर जीवन की अन्य दिशाओं में भी विविधता के दर्शन होते हैं।[16]

बौद्ध कला की उन्नत विरासत स्तूपों, चैत्यों और विहार गुफाओं के रुप में भारत के ओर–छोर तक व्याप्त हुई। बौद्ध कला के संगम इन बौद्ध मंदिरों के निर्माण में सम्राट अशोक का विशेष योगदान रहा। परवर्ती शासकों में भी बौद्ध धर्म से प्रेरणा प्राप्त की और इस प्रकार के कला तीर्थों के नवनिर्माण तथा पुनरुद्धार में अपनी रुचि प्रदर्शित की।

सन्दर्भ–

1. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, पृ0 21।
2. वही, पृ0 135।
3. रुदल प्रसाद यादव, प्राचीन भारतीय कला, वाराणसी, 1995, पृ0 41।
4. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोद्धृत, पृ0 138।
5. वही, पृ0 139।
6. वही, पृ0 140।
7. वही।
8. वही, पृ0 161।
9. वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, पृ0 183।
10. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोद्धृत, पृ0 222।
11. वही, पृ0 223।
12. रुदल प्रसाद यादव, पूर्वोद्धृत, पृ0 58।
13. वाचस्पति गैरोला, पूर्वोद्धृत, पृ0 202।

●●●●

शोध छात्रा, इतिहास विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-6

हिन्दी कहानी का जनवादी स्वर और स्वयं प्रकाश

पद्मा सिंह*

स्वयं प्रकाश का जीवन और उनकी रचनाशीलता पारदर्शी है। दोनों में एक विशेष प्रकार का तथ्य है। दोनों में एक विशेष प्रकार की तारतम्यता आश्चर्य में डालती है। लिखते कुछ और हो, सोचते कुछ और, और करते कुछ और हो ऐसा व्यक्तित्व उन्होंने धारण नहीं किया।

समकालीन साहित्य को गति देनेवाले, ताकत देनेवाले स्वयं प्रकाश एक जनवादी कथाकार है, जिन्होंने अपनी रचना (कहानी–उपन्यास आदि) के द्वारा भारतीय समाज राजनीति को लगातार झकझोरा है। पाठकों की चेतना को झकझोरनेवाले स्वयं प्रकाश पाठकीय अभिरूचि को लगातार विकसित करते रहे हैं– भाषा और शिल्प की निजता एक मौलिक कथाकार होने का प्रमाण देती रही है। समकालीन कथा साहित्य विशेषकर जनवादी रचनाशीलता को इन्होंने गहरे प्रभावित किया है। वैचारिक प्रतिबद्धता के उद्घोष करने वाले लेखकों की बिरादरी की महत्त्वकांक्षा के लिए हमेशा वे चुनौती बनकर खड़े रहने पर उनके व्यक्तित्व में 'अभिमान' जैसे शब्द पास फटक नहीं पाये। उनका साधारण सा वाह्य व्यक्तित्व कुछ खास होने की सूचना नहीं देता पर उनकी असाधारण प्रतिभा पर कहीं से संदेह नही किया जा सकता।

मात्रा और भार', 'सूरज कब निकलेगा' (1981), 'आसमां कैसे–कैसे' 'अगली किताब' (1988), 'आएंगे अच्छे दिन भी, 'आदमी' (1994), 'पार्टीशन' (1993), कहानी संग्रह, हिन्दी कथा साहित्य के अनमोल धरोहर हैं। कथा–साहित्य में अर्न्तनिहित सामाजिकता को केन्द्र में रखकर विश्लेषण करने पर यह आम धारणा बनती है कि वह सजग सामाजिक दायित्वबोध के रचनाकार हैं। निपट भावुकता से सबंधित कथाकार हैं उन्हें नहीं कहा जा सकता । समकालीन समस्याओं को बौद्धिकता से वे उद्वेलित, झकझोरने वाले रचनाकार हैं। एक साक्षात्कार में लेनिन के हवाले शायद खुद को ही संबोधित करते हुए वे लिखते हैं ''साहित्यकार यद्यपि मसीहा नहीं हो सकता, वह मार्गदर्शक और पथ प्रदर्शक भी नहीं होता लेकिन वह एक समझदार और सजग साथी जरूर होता है।''

स्वयं प्रकाश की समस्त रचना इसी भूमिका पर आधारित है। शायद यही वह बड़ा कारण है जिससे उनकी रचना के प्रति पाठक वर्ग आत्मानुभूति का अनुभव करने लगता है इस तरह उनकी लोकप्रियता का सदा विस्तार होते चलता है।

स्वयं प्रकाश के कथ्य ही नहीं, कथन की भंगिमा भी बेहद आकृष्ट करती रही है। इनके रचना संसार की एक बड़ी विशेषता यह है कि जिस विषय का वह चुनाव करते हैं, पहले उसकी समस्याओं से टकराते हैं, उसके मूल स्रोत या तह तक जाते हैं। मूल स्रोत तक पहुँचने की क्रिया–विधि कहीं कहानी का आधार बनती है, तो कहीं वहां तक पहुँचने का तनाव, तनाव की टकराहट सब कुछ उनकी कहानियों में समाता चला जाता है और यही कारण है कि एक ही विषय पर लिखने वाले दूसरे रचनाकारों से उनकी कहानियाँ ज्यादा असरदार या भेदक बन जाती हैं। इन्होंने अपने समकालीनों की तरह अनेक सामाजिक मुद्दों को अपनी कहानी का आधार बनाया है। जनवादी दृष्टि कायम रही है परन्तु उसका ट्रीटमेन्ट औरों से बिल्कुल भिन्न देखा जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि और तकनीक उनकी कहानियों पर हावी रहा है। सामाजिक इंजीनियरिंग का भरपूर प्रयोग अपनी रचनाओं में इन्होंने किया है। भाषा और शिल्प के स्तर पर तोड़–फोड़ खूब किये गए हैं पर उसकी मूल आत्मा क्षत नही हुई है।

पण्डित नेहरू के सपनों का भारत, उसके प्रति जनता का मोह साठ तक आते –आते टूटने लगा। यह बोध नयी कहानी के दौर के कथाकारों को अवश्य ही हतप्रभ करता रहा पर उनकी बहसें एक लिजलिजी भावुकता से आगे नहीं बढ़ सकी। अत्यन्त ही सादगी से कलाबाजी से दूर हद तक सपाटबयानी का खतरा मोल लेते हुए 70 के बाद जनवादी कथाकारों ने यह काम किया। काशीनाथ सिंह, इसरायल, मधुकर सिंह, रमेश उपाध्याय, धीरेन्द्र अस्थाना, विजेन्द्र अनिल, असगर वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह, नीरज सिंह, संजीव, शिवमूर्ति, पंकज बिष्ट, उदयप्रकाश , चित्रामुद्गल, सुरेश काटंक, अखिलेश, प्रेमकुमार मणि, ह्रषिकेश, सुलभ अनन्त कुमार सिंह , अभय, शंकर, जयनन्दन, मिथिलेश्वर आदि लेखक के साथ स्वयं प्रकाश एक लम्बी यात्रा तक साथ चलते रहे। निम्न और मध्यमवर्गीय जीवन की अनेक बहुस्तरीय विड्बनाओं को स्वयं प्रकाश ने गहरे महसूस किया और उसे राष्ट्रीय–हित के साथ सम्बद्ध करके देखने–परखने की कोशिश की । समतामूलक समाज की भागीदारी और राष्ट्र–हित इनकी आकांक्षा में शामिल हुई। कहना प्रासंगिक होगा कि आठवें दशक की पहचान कथा– साहित्य के इतिहास का महत्वपूर्ण पड़ाव और प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हुआ। यहाँ आकर कथा विमर्श एक ऊँचाई को प्राप्त करने लगा जिनमें लघु –पत्रिकाओं की बड़ी भूमिका रही है।

'कथा, 'वाम', 'सभारम्भ', 'वातायन' 'क्यो' और उत्तरार्द्ध जैसी लघु –पत्रिकाओं के प्रकाशन से कस्बाई प्रतिमा को राष्ट्रीय पटल पर आने का अवसर मिला। उनकी सोच और अनुभवों से भारतीय मानस को एक नई तस्वीर मिली। बहुत कुछ नया सोचने–समझने का अवसर मिला। जनवादी तथा वाम विचारधारा ने जनमानस को परिवर्तन के लिए उद्वेलित किया। कहानी विधा अपनी अस्मिता को इसी दौर में पूर्णता के साथ स्थापित किया और सिद्ध किया कि साहित्य का प्रायः उपेक्षित यह विधा साहित्य की केन्द्रीय विधा बनने के पूर्णतः योग्य है।

इस दौर की कहानियों की पहचान के मुख्य मुद्दों की चर्चा और उल्लेख यहाँ प्रासंगिक हैं। इसके बिना जनवादी कहानी के स्टैण्ड की तलाश और स्वयं प्रकाश के महती योगदान को जानना कठिन होगा आजादी के बाद 70 के आस –पास बेरोजगारी, सामंती उत्पीड़न, जातीय भेद–भाव, साम्प्रदायिकता , पारिवारिक विघटन, पूंजीवादी शोषण का दमन चक्र अपना स्वरूप ग्रहण करने लगाा था । शोषण मात्र के प्रति विद्रोह इस दौर की कहानियों की मुख्य प्रवृत्ति रही । समकालीन कहानी का दूसरा दौर जहां जनवादी कहानी का पूरा विकास हुआ उसमे मुख्य एजेण्डा गरीबी, किसान–मजदूर और बड़े किसानों के संघर्ष, कल–कारखानों के मजदूर और मालिकों के बहुस्तरीय शोषण तंत्र तथा उसके प्रतिकार ,सरकारी कर्मचारियों को अपने अधिकार के प्रति सजगता, स्त्री–दलित, आदिवासी की अस्मिता, सामाजिक, जातीय भेद–भाव, ऊँच–नीच पर कुठाराघात , ग्रामीण जनता और उसकी संस्कृति ,भाषा की महत्ता आदि कथा का उद्देश्य बना । इस दौर की कहानियों की प्रमुख संवेदना और प्रवृत्तियाँ इसी केन्द्र पर मूर्त्त होती दिखाई पड़ती है।

इस सदी के अंत तक आते–आते पहले के मुद्दे पूरी तरह से बदले तो नहीं गए पर कुछ नई समस्याओं और कार्य संस्कृतियें ने अपने गिरफ्त में पूरे समाज को ले लिया। भूमंडलीकरण ,बाजारवाद , तकनीक, संचार माध्यम, उपभोक्तावादी संस्कृति आदि ने मिलकर सामाजिक प्रतिबद्धता को हद तक कमजोर करने की कोशिश की। दूरदर्शन की नई भाषा और आयातित सपने जड़ों से काटने का कुचक्र करने लगे। भारतीय राजनीति कि एक नई संस्कृति जिसमें क्षेत्रीयता अपनी कमजोरियों के साथ देश की अखंडता को कमजोर करने लगी। राष्ट्रीय राजनीति पार्टीगत अर्न्तविरोधों से जूझने लगी। गुण्डाराज, राजनीति का अपराधीकरण, जातीय ध्रुवीकरण अपने निजी स्वार्थों से संचालित होने लगे और इन सबसे रचनाशीलता भी हद तक प्रभावित हुई। बाजारवाद का प्रभाव और हद तक आर्थिक लाभ–हानि का असर पड़ने लगा।

स्वयं प्रकाश इस नए बदलाव को अत्यंत बारीकी से देखते हैं। पर तमाम प्रकार के हलचलों के बीच अपने मूल मुद्दों का त्याग नहीं करते। अपने दौर में केवल साहित्यिक विषयों और उसके उपादानों से नहीं टकराते बल्कि साहित्येतर किन्तु सामाजिक और वैज्ञानिक विषयों को भी टटोलते हैं। उदाहरण के लिए हमें एक नजर उनके निबन्धों का संग्रह 'दूसरा पहलू' पर डालना चाहिए। यहाँ हम पाते हैं कि एक कथाकार को केवल कहानी, उपन्यास, नाटक और काव्य विधा तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। ऐसे साहित्येतर विषयों की जानकारी की आवश्यकता पर बल डालते हुए लेखक का यह कथन स्वतः महत्वपूर्ण हो जाता है– 'जब से साहित्यिक पत्रिकाएं शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाएं हुई हैं, यह जानना मुश्किल हो गया है कि विभिन्न ज्वलंत सामाजिक विषयों पर हमारे रचनाकार क्या सोचते हैं?

कुछ रचनाकार यह मानकर चलते हैं। कि दुनिया का कोई विषय ऐसा नहीं है जिस पर एक अच्छी कहानी नहीं लिखी जा सकती। पर लेखक को इस मानसिकता को बदलना चाहिए। दूरदर्शन की संस्कृति को लेकर अनेक रचनाकारों ने कहानियां लिखी हैं, बेशक कुछ अच्छी कहानियां भी आई हैं। तत्काल तो पिन्टो का साबुन ही स्मरण में है जिसे आप विज्ञानवादी संस्कृति की पड़ताल कह सकते हैं पर स्वयं प्रकाश मानते हैं कि दूरदर्शन ने हमारे पढ़ने की आदत और रूचि को भी भारी क्षति पहुंचाई है। हमारे मनोविज्ञान को इस संस्कृति ने बदला है। विज्ञानवादी संस्कृति का भयानक असर पड़ा है जीवन शैली में। अल्डास हक्सले के हवाले स्वयं प्रकाश इस तथ्य का स्मरण करते हुए पुनः कहते हैं– दूरदर्शन मनुष्य संस्कृति पर भयानक हमला है क्योंकि यह सांस्कृतिक गतिविधि में भागीदारी के हमारे अधिकार को मात्र भोक्ता होने तक हमें सीमित कर देता है।

किन्तु स्वयं प्रकाश किसी वस्तु को एकांगी दृष्टिकोण से देखने के कायल नहीं हैं। चाहकर भी दूरदर्शन जैसे वैज्ञानिक उपलब्धियों के आज के युग में पूरी तरह नकारना संभव नहीं है। अस्तु ऐसे संवेदनशील वस्तुओं के मानव–हित में अधिकाधिक कैसे उपयोग किया जाय, विचारणीय मुद्दा है। इसलिए स्वयं प्रकाश यहां अपना मंतव्य देते हुए यह कहना नहीं भूलते कि–''यदि हमें अपनी जनता की लड़ाई सचमुच लड़नी है तो हमें अपने शत्रु से अधिक बुद्धिमान तो होना ही चाहिए।''

अर्थात् इसे मनुष्योचित बनाने के लिए आवश्यक है कि हम इसके स्वरूप को बदलकर इसे जनशिक्षा और लोक संचार का उपयोगी माध्यम बनाया जाय। उपयोगी से आशय? क्रांतिकारी परिवर्त्तनकामी, वैज्ञानिक, रूढ़िविरोधी, प्रगतिशील, जीवंत और मनोरंजक।

कथन की अन्तिम पंक्ति ही इनकी रचनात्मकता का मूल मंत्र रहा है। इनके सम्पूर्ण साहित्य को समझने के लिए इस भाव–भूमिका से गुजरना आवश्यक है। इन दिनों नारीवादी कथाकारों और कतिपय सम्पादकों को नारी विषयक समस्याओं से जूझने की होड़–सी लगी है। फेमिनिस्ट कथाकार की दृष्टि में नारी संघर्ष पुरूषों के जन्म–जन्मांतर के प्रतिशोध का अखाड़ा–सा बन गया है। यह किसी भी समकालीन कथाकार से संभव नहीं है कि ऐसे ज्वलंत विषय की उपेक्षा कर दे। स्वयं प्रकाश ने कुछ अच्छी कहानियां इस विषय पर लिखी हैं। इन कहानियों के तई यह कहा जा सकता है कि स्वयं प्रकाश इस संवेदना से गहरे जुड़ते हैं पर उनकी दृष्टि फेमनिस्टों की तरह यहां भी एकांगी नहीं है।

'नारी मुक्ति के वास्तविक सन्दर्भ' एक निबंध में वह कहते हैं– यह बात तो स्पष्ट हो चुकी है कि नारी की असली मुक्ति तभी संभव होगी जब वह आर्थिक दृष्टि से पराधीन न होगी।

अर्थात् स्वयं प्रकाश यह अनुभव करते हैं कि पराधीनता का सबसे बड़ा आधार आर्थिक ही है। आर्थिक

स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद अनेक मुद्दे या तो शिथिल पड़ जाएंगे या उसका सामना किया जा सकता है। दूसरे जो लोग यह मानते हैं कि पुरूष के प्रति संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता या सेक्स कि स्वतंत्रता जो इन दिनों कहानियों में खूब दिखाई दे रही है उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। कहते हैं– पुरूष नारी का प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु नहीं है। मित्र और सहयोगी है। यह भी कि नारी को अपनी मुक्ति की लड़ाई स्वयं लड़नी और जीतनी है। कोई भी दूसरा इसके लिए लड़ाई नही लड़ेगा।

इस दृष्टि से 'मेरे और कोहरे के बीच' एक जटिल कहानी है। यह नयी जीवन पद्धति और दृष्टिकोण के कारण पुराने नैतिक आस्था का विघटन करती है। नारीवादी सोच ही नहीं बल्कि यथार्थवादी वस्तु के प्रति एक नया सोच और जीवन दृष्टि का आग्रह है। इस कहानी का नायक आरम्भ में जिन तनावों से गुजरता है वह पुरूष समाज की पुरानी आस्था–सी प्रतीत होती है। पाठक यहाँ पाता है कि पत्नी और पति के बीच आकस्मिक रूप से एक खलबली सी मच जाती है। पत्नी के पुराने मित्र का आया हुआ फोन उसके सामान्य जीवन को खंडित कर देता है और अचानक पत्नी के प्रति आक्रामक हो उठता है। यह आक्रमकता प्रतिशोध में बदलने को तत्पर हो जाता है। उसके समस्त आधुनिक विचारों को पुराने नैतिक संस्कार आहत करने लगते हैं। वह सोचने लगता है कि आत्महत्या कर ले या अपनी पत्नी या उसके प्रेमी कि हत्या कर डाले। यह भाव वस्तुतः दो संस्कारों के द्वन्द्वका तनाव ही सिद्ध होता है। भावावेश की प्रकिया में वह पत्नी के पास जाने का उपक्रम करता है किन्तु वह महसूस करता है कि उसके प्रति आक्रोश न सिर्फ निरर्थक है बल्कि एक स्त्री के प्रति घोर अत्याचार है। वह विचार करता है कि जिस औरत ने उसके साथ निरंतर प्रेम किया उसके केवल अतीत के संदर्भ में सजा देना नैतिक नहीं हो सकता। स्वयं प्रकाश का यही आधुनिक बोध उसे प्रासंगिक बना जाता है। अन्यत्र भी अनेक कहानियां नारी के प्रति लेखक की संवेदना को उजागर करती है। जैसे– 'बली' यह कहानी वर्गीय भेद की सीमाओं को रेखांकित करती हुई नारी के प्रति अपनी संवेदनशीलता व्यक्त करती है।

निश्चय ही स्वयं प्रकाश की कहानियां इसी सतह से गुजरकर कालजयी हुई है। आधार प्रकाशन के प्रकाशित– 'स्वयं प्रकाश : कहानियां ' की भूमिका लिखते हुए आलोचक शंभुनाथ ने बिल्कुल ठीक टिप्पणी की है– ''विकासशील समाज के त्रासदी यथार्थ के कहानी में खास कौतुक के साथ कहने का स्वयं प्रकाश का अपना तरीका है। कभी यह कौतुक महज भाषा के स्तर पर होता है। कभी पूरे चरित्र के स्तर पर। सामाजिक विसंगतियों के विनोदपूर्ण अनावरण की प्रकिया में कई बार साधारण चरित्र भी इतने अनोखे बन जाते हैं कि तय करना मुश्किल होता है कि उन पर हँसा जाय या रोया जाय। पिछले कुछ दशकों में इतने धीर गंभीर तरीके से लिखी गई है कि स्वयं प्रकाश का भाषा कौतुक और विनोद मानो लंबे समय से खोए किसी संगीत की वापसी है। यह कथा का आनंद पैदा करता है, जिसके बिना कहानी पहले अक्सर महज वैचारिक दस्तावेज बन जाती थी। स्वयं प्रकाश की कहानियों में कथा का आनंद पाठक को राहत नहीं देता, उसे यथार्थ की बेचैन कर देनेवाली तहों में ले जाकर आत्मलोचना के लिए विवश कर देता है। पाठक कहानी का हिस्सा बन जाता है।

रचना विश्लेषण के आधार पर यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि समकालीन रचना परिदृश्य को प्रभावित करने वाले स्वयं प्रकाश बड़े मनुष्य और बड़े रचनाकार हैं। जो अपनी रचनाओं के माध्यम से समय को एक गति प्रदान करते हैं। उनकी रचनाएं समाज को समझने के लिए एक जरूरी सन्दर्भ है।

सन्दर्भ–

1. देवीशंकर अवस्थी (डायरी अंश) इण्डिया टुडे, साहित्यिक वार्षिकी 1995
2. कथादेश, जनवरी 05, पृष्ठ– 55–87
3. वागर्थ, जनवरी 05, पृष्ठ– 56–68
4. बनास, प्रवेशांक,
5. हिन्दी कहानी प्रकिया और पाठ
6. चर्चित कहानियाँ–स्वयं प्रकाश
7. 'नई कहानी और शुरूआत,' निबंध नई कहानी, संदर्भ और प्रकृति
8. डॉ0 नामवर सिंह, कहानी : नई कहानी
9. सं0 इन्द्रनाथ मदान, हिन्दी कहानी पहचान और परख
10. पल, प्रतिपल–समकालीन कहानी
11. समांतर कहानी– सफलता–असफलता
12. वीरेन्द्र मोहन, समकालीन कहानी, वर्तमान साहित्य शताब्दी
13. हंस, जनवरी 2001.

●●●●

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

शोध-7

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श

मनीषा सिंह*

'प्राचीन भारत की जो सामाजिक व्यवस्था थी उसमें स्त्रियाँ अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। उसे पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त थे। वह पुरूष की सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी मानी गई साथ ही वह श्री लक्ष्मी, कन्या, पत्नी, वधु और माँ के रूप में आदर सम्मान की अधिकारी बनी।' "मानवता का इतिहास आज जितना उपलब्ध है, चाहे वह इतिहास ग्रन्थों के रूप में हो अथवा काव्य ग्रन्थों के रूप में उसके नियामक अथवा स्रष्टा अधिकांश पुरूष ही हैं पर उन्होंने चर्चा के लिए मुख्यतः नारी को ही चुना है। नारी मानवता के इतिहास की मूल प्रेरक शक्ति है। नारी इतिहास का निर्माण करती है। और सामाजिक परिस्थितियों में नारी का स्वयं निर्माण भी करती है। उपन्यास–साहित्य में मुख्यतः मानवीय मूल्यों की व्याख्या की जाती है, जिससे जारी मूल्यों की चर्चा करना उपन्यासकारों का प्रिय एवं प्रमुख विषय रहा है।"[1]

विभिन्न कालों में नारी की सामाजिक स्थिति बदलती रही, पूर्व वैदिक काल में जहाँ वह गृह की स्वामिनी अर्द्धांगिनी थी वही बाद के कालों में वह भोग–विलास के वस्तु के रूप में देखी जाने लगी। उत्तरोत्तर उसकी दशा निम्न से निम्नतर होती गई। आधुनिक–युग में बदलते व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों के साथ–साथ नारी मूल्यों मे भी नवीनता का समावेश हुआ। परिवर्तित होते मूल्य और स्त्री के बदलते हुए रूप, उनके अस्तित्व के प्रश्न को उपन्यासकारों ने पूरी यथार्थता के साथ अपने उपन्यासों में चित्रित किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी अपने उपन्यासों में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उनके स्त्री पात्र भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में गढ़े गए हैं। वे अतीत काल में जो सामाजिक परिस्थितियां थीं उनसे संघर्ष करती और सामंजस्य बिठाती हुई अपने व्यक्तित्व का विकास करती हुई परिलक्षित होती हैं। द्विवेदी जी के उपन्यासों में केन्द्रीय तथा प्रेरणा प्रदान करने वाले पात्रों में स्त्री–पात्र ही हैं चाहे वह निपुणिका, भट्टिनी, महामाया, सुचरिता हो या फिर चन्द्रलेखा, मैना, मृणालमंजरी, चन्द्रा, नारी माता और जबाला हो सभी स्त्री–पात्रों में तेजस्विता, आत्मविश्वास विचारों की आधुनिकता, सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह के भाव दिखलाई पड़ते हैं। स्त्री के स्वरूप की व्याख्या करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं।

"पुरूष वस्तु – विच्छिन्न भावरूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु – परिगृहीत रूप में रस पाती है। पुरूष निःसंग है, स्त्री आसक्त; पुरूष निर्द्वंद्व है, दृढ़ोन्मुखीः पुरूष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरूष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है; पर स्त्री, स्त्री को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। स्त्री प्रकृति है। उसकी सफलता पुरूष को बाँधने में है किंतु सार्थकता पुरूष की मुक्ति में है।"[2]

इस कथन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी पुरूष की शक्ति तथा उसकी पूर्णता का कारण स्त्री को मानते हैं। परन्तु पुरूष के अहंभाव के कारण, उसके द्वारा स्त्री को भोग विलास वर्ग साधन मानने को ही समाज का सबसे बड़ा दुर्भाग्य मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार, जिस प्रकार स्त्री पुरूष वर्ग प्राप्ति का यत्न करती है, उसी प्रकार पुरूष को भी उसे अपनी शक्ति के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए उसे भी तपस्या की अनिवार्यता को समझना होगा। इसके विपरीत वह उसे मनोरंजन वर्ग का साधन अपना आक्षित मानता है विचारों की इसी संकीर्णता को वे सारे विनाश का मूल मानते हैं। इस रूप में वे नारी को सृष्टि की सृजनधर्मी तथा कल्याणकारी शक्ति मानते हैं "देवता बहुत हो चुका। यह उद्दाम ताण्डव–क्षण भर के लिए रोको। एक बार फिर ऐसा प्रयत्न करो कि शोभा और शालीनता वर्ग महिमा लोगों में प्रतिष्ठित हो।' देवी का स्मयमान दक्षिण मुख संसार की रक्षा करे।"[3]

वे नारी शरीर को देव मंदिर के समान पवित्र मानते हैं। उनके अनुसार देव मंदिर का अधिष्ठाता देवता ही किसी भी स्त्री को उसकी अपनी पहचान उसकी अपनी गरिमा का निर्धारण करने वाला होता है। नारी देह में जिस देवता को उन्होंने देखा उसकी प्रतिष्ठा उनके चारों उपन्यासों में हुई हैं। उन्होंने माना है किसी भी समाज वर्ग सभ्यता का उत्कर्ष और पतन की वास्तविक स्थिति का ज्ञान तत्कालीन समाज में नारी की अवस्था के आधार पर देखा जा सकता है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में समुद्रगुप्त की विचारोद्भावना इसी मत की पुष्टि करती है–

"समुद्रगुप्त के रोम–रोम में यह विश्वास भरा था कि किसी देश की सभ्यता और धर्माचार की कसौटी उस देश की स्त्रियों का सम्मान और निश्चिन्तता है।"[4]

द्विवेदी बाणभट्ट की आत्मकथा इस उपन्यास के माध्यम से यह स्वीकार करते है कि नारी संसार का सबसे अनमोल रत्न है परन्तु उस रत्न का ही समाज द्वारा सर्वाधिक शोषण हो रहा है। उनके ये विचार केवल सामन्ती समाज का सत्य नहीं था, बल्कि ये विचार आधुनिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उतना ही वास्तविक है जितना 6वीं 12वीं शताब्दी में। बाणभट्ट जब यह कहते हैं कि "वह पान कम बेच रही थी मुस्कान ज्यादा।" तो क्या यह सत्य उस युग का ही सत्य बनकर रह जाता है या आधुनिक काल के बाजारवाद की संस्कृति का सत्य भी इस एक कथन में दिखलाई पड़ता है। अतीत काल के शासन व्यवस्था में उन्होंने नारी के गणिका रूप को भी अपने उपन्यासों में दिखलाया और उस रूप में भी उन्होंने औदात्य और गरिमामयी नारी के अन्तस् को दिखलाया और उनमें भी दैवी शक्ति का आभास कराया

पुनर्नवा में मंजुला में देवरात जागृत देवत्व भाव का भान करते हुए कहते हैं कि– मै भुजा उठाकर कह सकता हूँ, देवि तुम्हारे भीतर देवता का निवास है तुम जिस पाप–जीवन की बात कह रही हो वह मनुष्य की बनायी हुई विकृत सामाजिक व्यवस्था की देन है।''[5]

उनके उपन्यासों में केवल उसकी दीन अवस्था का चित्र नहीं बल्कि नारी को एक तेजस्वी शक्ति की अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह ओजस्विता, चन्द्रलेखा निपुणिका, महामाया भैरवी, मैना, चन्द्रा, मृणाल सभी नारी पात्रों में समान भाव से उद्भूत होती दिखलाई देती है। महामाया का देश की रक्षा में युवाओं का आह्वान तथा एकता का संदेश चन्द्रलेखा का उद्बोधन ''वीरों अपनी मातृभूमि की रक्षा किसी जाति विशेष का पेशा नहीं है। वह सबका जन्म सिद्ध अधिकार और विधि विहित धर्म है। मैं तुम्हारे भीतर शुद्ध धार्मिक भावना को उद्घोषित करना चाहती हूँ।''[6] ओजस्विता से भरे हुए कथन हैं। यहाँ आचार्य जी ने स्त्री का वह रूप प्रस्तुत किया है जो अपने आप में पूर्ण विश्वास करती है।

नारी पात्रों के विचारों में उनकी आधुनिक विचारधारा का सन्निवेश दिखलाई पड़ता है। वह पुरूष के साथ खड़ी हो सहधर्मिणी के भाव से जीवन के संघर्ष के क्षेत्र में उपस्थित होने की आकांक्षा करती है। सिंह वाहिनी कल्याणकारी देवी रूप के साथ–साथ वह स्वयं को महिषमर्दिनी दुर्गा के रूप में देखती है और कर्त्तव्य के मार्ग की दिशा स्वयं निर्धारित करके उस मार्ग पर अग्रसारित होना चाहती है। मृणाल के प्रश्नों में कि स्त्रियों का धर्म क्या पुरूष शक्ति की पूजा ही है या स्वयं भी आगे बढ़कर अधर्माचार का विध्वंस करना भी? आधुनिकता का भाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। क्रान्तिकारी विचारधारा का अत्यन्त तीव्रगामी प्रवाह चन्द्रा के कथन में मिलता है– मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरूद्ध मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य रूपधारी पशु से कर दिया जो पुरूष है ही नहीं। मैं उसे पति नहीं मान सकती।''[7]

द्विवेदी जी के नारी पात्रों के सन्दर्भ में डॉ0 रामदरश मिश्र जी ने कहा है ''नारी माता, मैना, विष्णु प्रिया, चन्द्रलेखा, सभी समाज के लांछनों के भीतर से उभरी हैं। लेखक की मानवतावादी दृष्टि इन पात्रों को कीचड़ में लपेटने के बजाय उन्हें उनकी अन्तस्थ जीवन शक्ति के बल पर उठाया है।''[8]

उनके स्त्री पात्र पुरूष पात्रों की प्रेरणा बनकर उभरी है। उनके अभाव में मुख्य पुरूष पात्रों का विकास भी बाधित होने लगता है। इन स्त्री पात्रों के द्वारा ही कथा का भी प्रवाह बना रहता है। बाणभट्ट निपुणिका तथा भट्टिनी के द्वारा ही उसे सम्पूर्ण विश्व में एक ही रागात्मक हृदय के भावात्मक सत्ता होने का ज्ञान होता है। चन्द्रलेखा तथा मैना को द्विवेदी जी इच्छा और क्रिया का प्रतीक रूप मानते हैं तथा दोनों के सामंजस्य के अभाव में सातवाहन जिसे वे ज्ञान के प्रतीक को भटकते हुए दिखलाते हैं। चन्द्रलेखा उन्हें राष्ट्र रक्षा कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है परन्तु उसके अभाव उनका मन विकार ग्रस्त होने लगता है परन्तु मैना पुनः उनमे राष्ट्रीयता का भाव भरती है– '' क्षमा करें महाराज, ऐसे नही चलेगा। वे लोग हमारे ऊपर आक्रमण करते रहें और हम लोग बचाव करते रहें। यह ठीक नहीं है। मुझसे अब यह नहीं सहा जाता। कल आप रानी के लिए व्याकुल थे, आज धीर शर्मा के लिए चिन्तित हैं.....इस प्रकार मोह की छोटी–छोटी गठरियों को ढ़ोनें में हमारी शक्ति क्षीण हो जायेगी।''[9]

'अनामदास का पोथा' उपन्यास प्रेरणा शक्ति के रूप में 'जबाला' आती है जिसे रैक्व अपका गुरू मानते हैं। जाबाला के सम्पर्क में आने से ही स्वयं में खोये ऋषि कुमार को यह ज्ञात होता है कि 'स्त्री' का भी अस्तित्व होता है। उनके चिन्तन माणन से बाहर भी एक जगत है जहाँ लोग दुःखी हैं और उनकी सेवा करते हुए स्वयं को दलित द्राक्षा की भाँति समर्पित कर देना जीवन का वास्तविक तप है। उनके व्यक्तित्व का विकास भी जाबाला को सान्निध्य का परिणाम था। रैक्व का कथन उसकी गरिमामयी व्यक्तित्व को उजागर करता है ''मुझे तो कुछ ही दिन पहले एक महान् दिव्य गुरू मिल गया। उसी गुरू ने मुझे पद और पदार्थ का भेद बताया..... मेरे गुरू का नाम 'शुभा' है। उस पदार्थ जैसी सुन्दर चीज़ मैने आज तक नहीं देखी है देवलोक के मनुष्य। तुम्हें देखकर मेरा सारा अस्तित्व तुम्हारी सेवा के लिए ढरक जाना चाहता है। मैंने बचपन में मधुर साम–वाणी सुनी है, परन्तु ऐसी मीठी वाणी आज तक नहीं सुनी। मुझे आज ऐसा जान पड़ता है कि मेरा जन्म कृतार्थ है।''[10] रैक्व अपने ज्ञान अपने विचारों के प्रवाह का कारण जाबाला को मानते हैं और इसीलिए वे उपोदग्रहण द्वारा उसे स्वीकार करते हैं जिससे उसके मुख से निकलने वाली प्रत्येक वचन को वे श्रुति वचनों की तरह पालन कर सके।

इस रूप में द्विवेदी जी के नारी पात्र पुरूष पात्रों के प्रेरणा बिन्दु हैं। इस सन्दर्भ मे कहा गया है कि ''पुरूष पात्रों की अपेक्षा द्विवेदी जी के नारी पात्रों मे अधिक जीवन्तता देखने को मिलती है और वे उपन्यास के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने एवं उपन्यासकार द्वारा चित्रित मूल्यों को प्रस्तुत करने में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम प्रमाणित हुई है।''

सन्दर्भ–

1. हिन्दी उपान्यास और यथार्थवाद–डॉ0 त्रिभुवन सिंह, पृ0 376
2. बाणभट्ट की आत्मकथा–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 76
3. 'पुनर्नवा' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 112
4. 'पुनर्नवा' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 308
5. 'पुनर्नवा' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 23
6. 'चारूचन्द्रलेख' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0
7. 'पुनर्नवा' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 135
8. हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा – डॉ0 रामदरश मिश्र 220
9. 'चारूचन्द्रलेख' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 181
10. 'अनामदास का पोथा' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 28

●●●●

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शोध-8

मातुल कन्या विवाह : वैध या अवैध?

प्रियंका सिंह*

दक्षिण भारत में मामा की कन्या के साथ विवाह का आचार है जबकि उत्तर भारत में इसे दोषग्रस्त माना जाता है। बौधायन धर्मसूत्र ने उत्तर भारत से दक्षिण भारत की पाँच प्रकार की विलक्षण रीतियों में मामा तथा फूफी की कन्या से विवाह को भी सम्मिलित किया है। जिसका समर्थन पराशरमाधवीय, स्मृतिचंद्रिका, स्मृतिमुक्ताफल, संस्कारकौस्तुभ, धर्मसिंधु तथा नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ करते हैं। दाक्षिणात्य विद्वान् माधवाचार्य ने पराशर स्मृति की टीका में इस विवाह को धर्मसम्मत, आचारसम्मत एवं शास्त्रसम्मत बताया है। उनके अनुसार मातुलकन्या के साथ विवाह का निषेध गान्धर्व आदि विवाह से विवाहित स्त्री से उत्पन्न कन्या को लेकर है, ब्राह्म आदि विवाह से विवाहित स्त्री से उत्पन्न कन्या को लेकर नहीं। क्योंकि गान्धर्व आदि विवाहों में सप्तपदी के अभाव में कन्या के सापिण्ड्य की निवृत्ति नहीं होती जबकि ब्राह्म आदि विवाहों में विवाहित कन्या के सापिण्ड्य की निवृत्ति हो जाती है।

अनेक धर्म शास्त्रकारों एवं व्यवस्थाकारों ने पिता की बहन की कन्या, माता की बहन की कन्या, माता के आप्त भाई की कन्या के साथ गमन करके चान्द्रायण व्रत करने का निर्देश दिया है। इस पर टिप्पणी करते हुए माधवाचार्य ने आप्त का अर्थ सन्निकृष्ट (समीप) सपिण्ड की गान्धर्व आदि विवाह से विवाहित माता के भाई की कन्या तथा पैतृश्वस्रेयी से पिता के उस बहन की विवक्षा की है जो गान्धर्व आदि विवाह से विवाहित है और उसके सापिण्ड्य की निवृत्ति नहीं हुई है। उनके मत में ऐसा स्वीकार करने पर ही उनकी कन्या के लिए भगिनी विशेषण सार्थक होता है।

यद्यपि मातुल कन्या के साथ होने वाले विवाह की निन्दा उत्तर के शिष्टों ने की है तथापि दाक्षिणात्य शिष्टों के द्वारा आचारित होने के कारण यह उत्तर में होने वाले शिष्टों के लिए भी अविरूद्ध नहीं है। दाक्षिणात्यों में मातुलकन्या के साथ विवाह का प्रचलन विधिमूलक माना गया है क्योंकि वहाँ पर विधि और निषेध के विद्वान् परीक्षक ही मातुलकन्या के साथ विवाह करते हैं। परा शरमाधवीय एवं स्मृतिचंद्रिका आदि ने मातुलकन्या से विवाह सम्बन्ध वैध माना है। वे यह मानते हैं कि मनु, शातातप, सुमन्तु आदि ने इसे भर्त्सना की दृष्टि से देखा है, तथापि वे कहते हैं कि वेद के कुछ वाक्य, कुछ स्मृतियों तथा कुछ शिष्टों ने इसे मान्यता दी है, अतः ऐसे विवाह सम्बन्ध सदाचार के अंतर्गत आते हैं। वे इस विषय में शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हैं। मातुलकन्याविवाह के समर्थक स्मृतिचंद्रिका, पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों ने शतपथ ब्राह्मण के खिल सूक्त को उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य यह है कि–"हे इन्द्र! प्रशस्त मार्गों से आप हमारे यज्ञ में आइये और आज्य से सिक्त वपा रूपी अपने भाग को ग्रहण कीजिए। यह वपा आपका भाग वैसे ही है जैसे मातुल की कन्या भाग्निनेय का भाग अर्थात् उसके विवाह के योग्य होती है और फूआ की कन्या जैसे पौत्र का भाग होती है वैसे ही यह हवि रूप वपा आपका भाग है"– इस मन्त्र में विद्यमान मातुलकन्याविवाह और पैतृश्वस्रेयी विवाह का लिंङ विधि का अनुमापक होगा। यजुर्वेद की वाजसनेयि भाखा में भी कहा गया है कि एक पुरूश से भोक्ता और भोग्य दोनों उत्पन्न होते हैं वे दोनों परस्पर संकल्प करते हैं कि कूटस्थ पुरुष से लेकर तृतीय या चतुर्थ पुरुष में हमलोग विवाह करेंगे यह भी मातुलकन्या या पैतृश्वस्रेयी के विवाह में लिंङ है जो विधि का अनुमापक होगा। इसी न्याय से तृतीय पुरुष में विवाह करना चाहिए, इत्यादि स्थलों में भी अपूर्व अर्थ के होने से ही 'मातुलकन्या के साथ विवाह करना चाहिए', इस विधि से कल्पना की जायेगी। इसीलिए यह मातुलकन्याविवाह और पितृभगिनीकन्याविवाह का आचार कथमपि अधर्म नहीं है। वैधनाथ कृत स्मृतिमुक्ताफल का कहना है– "आन्ध्रों में शिष्ट लोग वेदपाठी होते हैं और मातुल–सुता–परिणय को मान्यता देते हैं; द्रविड़ों में शिष्ट लोग समान पूर्वज से चौथी पीढ़ी में विवाह–सम्बन्ध वैध मानते हैं।" दक्षिण में (मद्रास आदि प्रान्त में) कुछ जातियाँ मातुलकन्या के साथ विवाह करना बहुत अच्छा समझती हैं। कुछ ब्राह्मण जातियाँ यथा कर्नाटक एवं कर्हाड के देशस्थ ब्राह्मण आज भी इस नियम को मानते हैं। संस्कारकौस्तुभ, स्मृतिचंद्रिका एवं धर्मसिंधु भी मातुलसुतापरिणयन को वैधानिक स्वरूप प्रदान करते हैं।

माधवाचार्य ने पराशरमाधवीय के आचारकाण्ड में मातुलसुतापरिणय को वैधानिक स्वरूप प्रदान करने के पश्चात् पुनः प्रायश्चितकाण्ड में इनसे विवाह होने पर अनेक धर्म शास्त्रकारों एवं व्यवस्थाकारों, यथा सुमन्तु, शातातप, बौधायन को उद्धृत करते हुए प्रायश्चित का विधान प्रतिपादित किया है। मातुलकन्याविवाह के विरोध में प्रतिपादित इस प्रायश्चित की शंका का निवारण करते हुए माधवाचार्य ने कहा है कि यह प्रायश्चित आदि विवाह में उत्पन्न पुरुषों में सापिण्ड्य की निवृत्ति न होने से विवाह कर लेने पर होगा अर्थात् सापिण्ड्य की निवृत्ति हो जाने पर मातुलकन्या आदि से विवाह में कोई प्रायश्चित नहीं है। यद्यपि कुछ विद्वान् तो देश–विदेश के आचार के आधार पर आसुर विवाह से उत्पन्न मातुलसुता के साथ विवाह को भी धर्मसम्मत मानते हैं इसके समर्थन में माधवाचार्य ने बौधायन के कथन को प्रामाण्य के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि दाक्षिणात्य अन्य उत्तर देश में मातुलकन्या के साथ विवाह करता हुआ दोषी होगा न कि अपने देश में क्योंकि आचार देशमूलक ही होता है। इसी सन्दर्भ में पराशरमाधवीय में देशाचार के अनुसार कर्नाटक में बलपूर्वक मामा की कन्या के साथ विवाह को दोषरहित

बताया गया है।

दक्षिण भारत में मातुलकन्या और पैतृश्वस्रेयी विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। तीसरी शताब्दी के नागार्जुनकोण्डा के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि वाजपेय, अश्वमेध एवं अन्य यज्ञ करने वाले सिरी छान्तमूल के पुत्र राजा सिरी विरपुरिसदत ने अपनी फूफी ;पिता की बहनद्ध की लड़की से विवाह किया था। इक्ष्वाकु शासक वीरदत्त पुरूष की तीन रानियाँ उसके पिता के बहनों की दुहितायें थीं तथा राजराज का विवाह अपने मामा चोल शासक राजेन्द्र की पुत्री अमंगादेवी से हुआ था। नीतिवाक्यामृत में भी मामा की लड़की के साथ विवाह करना देश की प्रथा के अधीन बताया गया है। कुछ लेखकों ने मातुलकन्या से विवाह को उचित किंतु फूफी की कन्या से अनुचित ठहराया है। इसी प्रकार स्मृतिचंद्रिका एवं पराशरमाधवीय ने लिखा है कि यद्यपि मौसी या मौसी की कन्या से विवाह सम्बन्ध वैसा ही मान्य होना चाहिए जैसा कि मातुलकन्या से किन्तु शिष्ट लोग इसे बुरा मानते हैं अतः यह अमान्य है। यह दोनों ग्रन्थ याज्ञवल्क्यस्मृति पर विश्वास करते हैं।

इस प्रकार ब्राह्म आदि विवाह की व्यवस्था से और देशभेद को लेकर बनायी गयी व्यवस्था से मातुल–कन्या के साथ विवाह 'न सपिण्डाम्' इत्यादि शास्त्र से सिद्ध है।

यद्यपि अपरार्क, विश्वरूप एवं निर्णयसिंधु ने मातुलकन्या के साथ विवाह सम्बन्ध की भर्त्सना की है। पी0वी0 काणे के अनुसार जिस प्रकार माधवाचार्य एवं देवण्णभट्ट ने शतपथ ब्राह्मण के खिल सूक्त को उद्धृत करके मातुलकन्याविवाह को वैध सिद्ध किया है उसी प्रकार अपरार्क एवं विश्वरूप ने भी इस उद्धरण की व्याख्या दूसरे ढंग से करके मातुलकन्या के विवाह को अमान्य ठहराया है साथ ही वार्त्तिककार कुमारिल भट्ट, भाशायकार भाबरस्वामी तथा महाराष्ट्र के महामीमांसक खण्डदेव ने भी अपने ग्रन्थ मीमांसाकौस्तुभ में मातुलसुताविवाह का खण्डन किया है। खण्डन में जो वचन उद्धृत हैं उसका स्पर्श माधवाचार्य एवं देवण्णभट्ट ने नहीं किया है।

विवाह सम्बन्ध प्रतिबन्धों एवं नियमों में बड़ा मतभेद रहा है इन विविध मतभेदों को देखकर संस्कारकौस्तुभ एवं धर्मसिंधु के वचन तर्कयुक्त और व्यवहारिक नहीं जँचते हैं। इनका कहना है कि कलियुग में भी जिनके कुलों में या जिन प्रदेशों में मातुलकन्याविवाह युगों से प्रचलित रहा है, उन्हें उन लोगों के द्वारा (जो लोग मातुलकन्याविवाह के विरोधी हैं) श्राद्ध में बुलाया जाना चाहिए और उनकी कन्याओं से अपने कुल में विवाह करने में नहीं हिचकना चाहिए।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सर्वथा मातुलकन्याविवाह शिष्टस्मृति से विगर्हित है। ऐसे विवाह के हो जाने पर स्मृतियों में चान्द्रायण का अनुष्ठान करके भोगतः पत्नी का त्याग करते हुए माता की तरह रक्षा करने की बात कही गयी है–

'भोगतस्तां परित्यज्य पालयेज्जननीमिव।'

स्मृति से विरूद्ध आचार प्रमाणित नहीं माना जाता, यह सिद्धान्त तन्त्रवार्तिक के शिष्टाकोपीय अधिकरण में स्थापित है।

मन्त्रवर्ण से साक्षात् मातुलकन्याविवाह सिद्ध है अतः मातुलकन्या विवाह की विरोधिनी स्मृतियों को ही अप्रमाणिक माना जाय, ऐसा कहने वाले भी शास्त्रों के तात्पर्य को नहीं समझे हैं। रागतः प्राप्त मातुलकन्याविवाह का अनुवाद मात्र मन्त्रवर्ण करता है अतः वहाँ विधि की प्राप्ति नहीं की जा सकती। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि मातुलकन्याविवाह शास्त्र सम्मत नहीं है।

सन्दर्भ–

1. बौधायन धर्मसूत्र, 1/19–26
2. पराशरमाधवीय, जि01, पृ0 469
3. वही, पृ0 469–470, इसी सन्दर्भ में उद्धृत शातातप, पैठीनसि, सुमन्तु, व्यास, मनु
4. वही, पृ0 470
5. वही, पृ0 471
6. स्मृतिचंद्रिका, भाग–1, पृ0 70–74
7. शतपथ ब्राह्मण 1/8/3/6
8. पराशरमाधवीय, जि0–1, पृ0 471
9. संस्कारकौस्तुभ, पृ0 616/620
10. स्मृतिचंद्रिका, भाग–1, पृ0 70–74
11. पी0वी0काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1, पृ0 280
12. पराशरमाधवीय, जि02–3, प्रा0का0, पृ0 272
13. वही, जि01, पृ0 472–473
14. वही, जि0 2–3, व्य0 का0 पृ0 23
15. पी0वी0काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1, पृ0281
16. भयाम मनोहर मिश्र, दक्षिण भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ0 95
17. बलराम श्रीवास्तव, दक्षिण भारत, पृ0152
18. विशुद्धानन्द पाठक, दक्षिण भारत का इतिहास, पृ0 209
19. नीतिवाक्यामृत, 31.29, पृ0 188
20. निर्णयसिंधु 3 पृ0 286
21. स्मृतिचंद्रिका, भाग–1, पृ0 71
22. पराशरमाधवीय, जि0–1, पृ0 470
23. वही; पी0वी0 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1, पृ0 281
24. वही, पृ0 470–471; याज्ञवल्क्यस्मृति 1/153।
25. पराशरमाधवीय, जि0–1, पृ0 473।
26. अपरार्क, 1/53, पृ0 82–84।
27. विश्वरूप, 1/53।
28. निर्णयसिंधु, पृ0 286।
29. शतपथ ब्राह्मण 1/8/3/6।
30. पी0वी0 काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–1, पृ0 280।
31. कमलाकांत त्रिपाठी, धर्म शुद्धि, पृ0 188–193।
32. संस्कारकौस्तुभ, पृ0 620।
33. धर्मसिंधु, पृ0 224।

●●●●

शोध छात्रा, इतिहास विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी, उ0प्र0

शोध-9

बीसवी सदी के 'संस्कृत काव्यशास्त्रीय' आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य स्वरूप समीक्षा

ब्रज बिहारी पाण्डेय*

संस्कृतकाव्यशास्त्र की विकासयात्रा अविरलजलधारा के समान अनवरत चलते हुए, आचार्य भरतमुनि से लेकर बीसवीं सदी के आचार्यों के अन्तर्मन में भी विशेषरूप से पाया जाता है। इसकी परम्परा का व्यवस्थापन प्रत्येक सदी में किसी न किसी आचार्यों के द्वारा किसी ना किसी रूप में बारम्बार होता रहा है। बीसवीं सदी में भी आचार्यों ने काव्यशास्त्र को नवीन दृष्टि से देखते हुए व्यवस्थापन करने का अप्रतिम प्रयास किया है।

आचार्य शिवदत्तशर्मा (1903 ई0) का काव्यरसायनम्, नरसिंहाचार्य (1908 ई0) का पाश्चात्यशास्त्रसारः, ब्रह्मानन्द शर्मा (1923 ई0) का काव्य सत्यलोकः, इन्यूर केशव नम्बूदरी (1932 ई0) का कुलशेरवरीयम्, रेवा प्रसाद द्विवेदी (1935 ई0) का काव्यालंकारकारिका, छज्जूरामशास्त्री (1952 ई0) का साहित्यविन्दु, गिरिधरलाल व्यास (1984 ई0) का अभिनव काव्यप्रकाश, शिवजी उपाध्याय (20वीं श0) का साहित्यसन्दर्भ, राघावल्लभ त्रिपाठी (20वीं श0) का अभिनवकाव्यालंकार सूत्राणी, राजेन्द्र मिश्र (20वीं श0) का अभिराजयशोभूषणम्, चन्द्रमौलि द्विवेदी (20वीं श0) का रसवसुमूर्तिः, तथा रहसबिहारी द्विवेदी (20वीं श0) का नव्यकाव्यतत्वमीमांसा इत्यादि ग्रन्थ इसी प्रकार के प्रयासों का प्रतिफल हैं।

इन ग्रन्थों में प्राचीन कालजयी साहित्य का पुनः सन्धान भी किया गया है और विश्वसाहित्य में हो रहे नवोत्थान और नवप्रयोगों का परीक्षण भी। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक कोटियों की पुनर्व्याख्या भी आचार्यों द्वारा इन ग्रन्थों में बिल्कुल नये दृष्टि से की गयी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यस्ववरूप के विवेचन का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इसके विवेचन के बिना काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रायः अधूरा सा समझा जाता है, शायद यही कारण हैं कि प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों के ग्रन्थों में काव्यस्वरूप की चर्चा अवश्य ही की गयी है। बीसवीं सदी के आचार्यो, डॉ0 ब्रह्मनन्द शर्मा जी ने प्राचीन आचार्यों के विचार धाराओं से कुछ दूरी अपनाते हुए तथा काव्य को विल्कुल नये दृष्टि से देखते हुए नये चिन्तन मनन के द्वारा काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है–

शब्दार्थवर्ति सत्यस्य सुन्दरं प्रतिपादनम्।[1]
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयं सत्यस्यात्र विशेषता।।

डॉ0 शर्मा जी का मानना है कि काव्य में जिस रमणीयता की प्रतीति होती है वह सत्य प्रतीति से युक्त ही होती है क्योंकि सत्य के प्रति सामाजिकों का सहजाकर्षण होता है। यदि सत्य में सूक्ष्मता का आधान हो तो आकर्षणाधिक्य भी बढ़ता है। यही आकार्षणाधिक्य ही सत्य का सौन्दर्य हैं। इनका कहना है कि सत्यानुभूति ही काव्य की आत्मा है–

सत्यमर्थगतं काव्ये, अर्थे शब्दस्य संस्थितिः।[2]
शब्दार्थयोर्हि सद्भावात् अस्य साहित्यरूपता।।

सत्य सभी का अभीष्ट होता है और काव्य में भी सत्य की स्थिति होती है। इस सत्य में सूक्ष्मता का आधान होने से तीव्रप्रभावकारिता आती है। यह प्रभावकारिता ही काव्य में चमत्कार कहलाती है। "शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को काव्य कहते हैं।" यह काव्य सत्य एक व्यापक सिद्धान्त है जिसमें शब्द, अर्थ, अलंकार, व्यंजना, रस, गुण आदि समस्त तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है। कुछ लोंगों का कहना है कि डॉ0 शर्मा का यह काव्यलक्षण पाश्चात्य आलोचना शास्त्र से प्रभावित प्रतीत होता है क्योंकि अरस्तु ने भी काव्य में वास्तविकता के समावेश पर बल दिया है।

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अलंकारवादी परम्परा को पुनः पुष्ट करने के उद्देश्य से दार्शनिक पृष्ठभूमि में काव्य का भावात्मक एवं ज्ञानात्मक स्वरूप बताते हुए, उसका लक्षण किया हैं–

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।[3]
अलंकृतार्थ संवृत्तिः कविता सर्वमंगला।।

अर्थात् शब्दार्थ का अलंकृत स्वरूप जो लोकोत्तर आनन्दांश से युक्त एवं जनहितकारी हो उसे काव्य कहते हैं। इन्होने शब्द को बाह्यज्ञान और काव्य (अर्थ) को अन्तः ज्ञान रूप माना है। "काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे शब्दत्त्वं नोपपद्यते", क्योंकि काव्य के लिए शब्द अनिवार्य होता है अतः शब्द को उपचारतः काव्य मान लेना उचित नहीं है। जिस प्रकार प्रपानक रस के लिए अनेक तत्त्वों की आवश्यकता होती है परन्तु उन तत्वों को प्रपानक नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी प्रकार काव्य के लिए शब्दार्थ की आवश्यकता होती है परन्तु शब्दार्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता। शब्दार्थ मात्र उपाधि है। मूलतः काव्य तो उसका भावात्मक ज्ञानरूप है। प्रपानक के पात्र को भला कोई प्रपानक तो नहीं कह सकता?

जानात्मकोऽपि शब्दः स्यादुपाधि काव्यवर्ष्मणि।[5]
पात्रं रसे पानकख्यं दर्पणे वा तनौ यथा।।

इस प्रकार डॉ0 द्विवेदी जी शब्द, अर्थ या शब्दार्थ को काव्य नहीं मानते इनका मत है कि शब्द कला काव्य के लिए ज्ञान संवहन साधन मात्र है। जिस प्रकार आत्मा के धारण हेतु शरीर की आवश्यकता है परन्तु शरीर आत्मा नहीं हो सकता। उसी प्रकार काव्य के निर्माण हेतु शब्दार्थ की आवश्यकता होती है परन्तु शब्दार्थ काव्य नहीं हो सकता। शब्द परिवर्तन से काव्यत्त्व की हानि नहीं होती अपितु अर्थ की निरन्तरता बनी रहती है। अतः अलंकृत अर्थ के ज्ञान मात्र को काव्य कहते हैं जो विशिष्ट ज्ञान का प्रतिपादन

करता हैं। ग्रन्थारम्भ में डॉ0 द्विवेदी ने सर्वमंगला पद का प्रयोग किया है जिससे दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ स्पष्ट होती है

1. प्रथम तो काव्य विषयक ग्रन्थ, प्रणयन को निर्विघ्न परिसमाप्ति की कामना को व्यक्त करता है।
2. दूसरी बात यह है कि इनके द्वारा किया गया काव्य लक्षण मात्र संस्कृत भाषानिष्ठ काव्य का लक्षण नहीं है, अपितु संसार की समस्त भाषाओं के काव्यों पर भी लक्षण घटित होता है। जिससे पूर्वोक्त काव्य लक्षणों के क्षेत्र का विस्तार होता है डॉ0 द्विवेदी जी ने इसके अतिरिक्त भी काव्य के तीन लक्षण और भी प्रस्तुत किये हैं–

प्रातिभी कवेः सृष्टिः संविन्मात्रैक विग्रहाः।[6]
सैव काव्य कला, तत्र भाषा भवति दर्पणः।।

कवि कर्म के दृष्टि से किये गए इस काव्यलक्षण में द्विवेदी जी ने कवि की प्रतिभा से उत्पन्न जो सृष्टि है उसे ही काव्य कहा है तथा शब्द, और भाषादि को मात्र इन्होने दर्पण की संज्ञा दिया है। क्योंकि दर्पणगत तस्वीर वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिविम्ब मात्र ही होता है। जब तक दर्पण के समक्ष वस्तु की वास्तविक सत्ता उपस्थित नहीं होगी तब तक दर्पण में उसकी छाया नहीं आ सकती। अतः काव्य सृष्टि हेतु कवि की प्रतिभा ही वास्तविक तत्त्व है, तथा शब्द भाषादि दर्पण।

ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मकः।[7]
यः कश्चन च मत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते।।

शब्दार्थ के ज्ञान पर आधारित इस द्वितीय काव्य लक्षण में द्विवेदी जी ने शब्द और अर्थ के द्वारा यदि किसी विशेष अर्थ का बोध होता है तो उसे भी काव्य माना है।

या चैषा पूर्णता–युक्ता संविन्नाम्नी नवा–वधुः।[8]
सैव विच्छित्ति सम्पन्ना कवितात्त्वं प्रपद्यते।।

काव्यधर्म के आधार पर प्रस्तुत किये गये इस तृतीय काव्यलक्षण में द्विवेदी जी पूर्णता से युक्त (दोष रहित) एवं विच्छित्ति (अलंकार) से सम्पन्न जो विशिष्ट ज्ञान है उसे काव्य कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी के द्वारा किये गये काव्यलक्षण को देखने से स्पष्टतः एक तथ्य तो यह निकलता है कि इन्होने सर्वसम्मत रूप से काव्य को परिभाषित करने में सफलता प्राप्त नहीं की है। अन्यथा किसी एक ही वस्तु के भिन्न–भिन्न लक्षण करने की क्या आवश्यकता थी? परन्तु दूसरी ओर यदि ध्यान दिया जाय तो प्रथम एक ही लक्षण में बाद के सभी लक्षणों को समाहित किया जा सकता है, क्योंकि कवि कर्म, काव्यधर्म एवं ज्ञान के आधार पर जिन गुणों का काव्यलक्षण में वर्णन किया गया है। वे सभी भाव प्रथम लक्षण से ही स्पष्ट हो जाते हैं, जिसे इन्होने अलग–अलग परिलक्षित किया हैं–

निष्कर्षतः इनका प्रयत्न अत्यंत ही प्रशंसनीय है क्योंकि इन्होने काव्यलक्षण के सम्बन्ध में अपनी नवीन दृष्टि प्रदान करने का भरपूर प्रयत्न किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को सर्वप्रथम आचार्य भामह ने परिभाषित किया है। परवर्ती आचार्यो में मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज का काव्यलक्षण अधिक प्रशस्त एवं प्रचलित हुआ किन्तु प्रो0 शिवजी उपाध्याय जी का इस सम्बन्ध में मानना है कि काव्यलक्षण करते समय इस तथ्य को सतत् ध्यान में रखना चाहिए कि लक्षण (धर्म) का लक्षित (धर्मी) से अविनाभाव सम्बन्ध हो।

काव्यलक्षण को काव्य तत्त्वों की परिधि में आबद्ध करने की आवश्यकता नहीं हैं। कवि काव्यरचना के समय काव्य तत्त्वों की सजावट पर ध्यान नहीं देता और न ही शब्दकोष से शब्द ही ढूंढ़ता है। काव्यरचनावधि में स्वतः सरस्वती की स्नेह–कृपा सें शब्द, अलंकार, गुणादि स्फुरित होते रहते हैं।

कविकर्मतयाख्यात काव्यं यत् कवृधातुजम्।[9]
तत्स्वरूपमथैकान्तं काव्यत्वमिति सुस्थिरम्।।

काव्य शब्द कवृ वर्णने धातु से निष्पन्न है। कवि द्वारा ख्यात (प्रसिद्ध) वर्णन को ही काव्य कहते हैं इसलिए कवि पर आधारित ही काव्य का लक्षण किया जाता है। अतएव कवि आधारित काव्य का ही लक्षण करना उचित है। पं0 उपाध्याय जी के अनुसार शब्द, अर्थ शब्दार्थोभयनिष्ठ, गुणालंकार, रीति, वृत्यादि सभी काव्य के ही अंग हैं क्योंकि ये काव्यात्मतत्त्व नहीं होने से अंगी नहीं हो सकते। अतः इसके विना भी काव्य की स्थिति हो सकती हैं। यदि पूर्वाचार्यो के अनुसार काव्यलक्षण मानते हैं तो अनेक प्रकार के काव्य स्वीकार करने होंगे, जिससे परस्पर विरोध होगा। यथा–शब्दप्रधान काव्यम्, अर्थप्रधान काव्यम् तथा अलंकार प्रधान काव्यमित्यादि।

जिस प्रकार शरीर में आत्मा के रहने से उपचारवश शरीर को ही आत्मा कह देते हैं, उसी प्रकार काव्य के शब्दार्थ निष्ठ होने से ही शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। परन्तु वस्तुतः वह काव्य नहीं हैं। क्योंकि यदि शब्दार्थ में काव्य होता तो कोश–ग्रन्थों को भी काव्य की संज्ञा प्राप्त हो जाती। साथ ही साथ कवि को काव्य रचना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती परन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता है। अतः पूर्वाचार्यो का काव्यलक्षण सिद्धान्त उचित प्रतित नहीं होता। पं0 उपाध्याय जी इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

यत्प्राधान्येन तद्रूपं जायते कवि कर्मणा।[10]
तेन तद्व्यपदेशः स्याच्छब्दार्थोभय निष्ठितः।।
अपि च 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'।।

इस न्याय से किसी भी लक्षण में प्रधान तत्त्व का निरूपण होना चाहिए। अब यदि काव्य के अंग तत्त्वों की प्रधानता को ही आधार मानकर काव्यलक्षण लक्षित किया जाय तो बात बनने की जगह विगड़ जायेगी अतएव काव्य में कविकर्म को ही प्रधान रूप से रखकर लक्षण प्रस्तुत करना उचित होगा।

पं0 उपाध्याय जी नें यहाँ पूर्वाचार्यों के सभी लक्षणों की समीक्षा कर मात्र कविकर्म की प्रधानता की ही बात कही है। लेकिन यह कटुसत्य है कि काव्य का सम्यक् लक्षण प्रस्तुत कर पाना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। माना कि काव्य कवि की कृति हैं यदि कृति को ही आधार मान लें तो "कुम्भं

करोति'' इति, इस वाक्य से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि घट निर्माण कार्य कुम्भकार ही करता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि कुम्भकार का प्रत्येक कार्य घट ही हो जायेगा। जिस प्रकार कुम्भ निर्माण के लिए मिट्टी, चक्र, चिवर और दण्डादि अत्यावश्यक है, उसी प्रकार शब्दार्थ भी काव्य के लिए आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना काव्य की रचना सम्भव ही नहीं है। अतः पूर्वाचार्यो का काव्यलक्षण काव्य में अंगरूप पर ही आधारित प्रतीत होता है। इस प्रकार काव्यलक्षण को परिष्कृत कर उसके मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए आधुनिक काव्यशास्त्र के विद्वानों ने सुन्दर प्रयत्न किया है।

''लोकानुकीर्तनं काव्यम्''[11] यह काव्य का लक्षण डॉ0 राधावल्लभत्रिपाठि जी अपने 'अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत करते हुए कहते है कि केवल स्थावरजंगमात्मक संसार ही नहीं अपितु कवि चेतना के द्वारा विभाव्यमान समस्त भुवन ही लोक है। आचार्य अभिनवगुप्त आदि की अपेक्षा लोक शब्द का व्यापक अर्थ करते हुए त्रिपाठी जी ने इसमें कविकल्पना के संसार और मनोलोक का भी समावेश किया है। वस्तुतः दिक्काल में प्रसृत समस्त सृष्टि ही लोक है। जो कुछ भी प्रतीति गोचर होता है, वह लोक है। ब्रह्य आदि को उपचार से ही अलौकिक या लोकातिक्रान्तगोचर कहा जाता है। वास्तव में अलौकिक या लोकातिक्रान्त कुछ नहीं होता है। इस दृष्टि से लोक के तीन रूप है – आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ये तीनों रूप परस्पर एक दूसरे से जुडे हुए हैं। इन तीनों का समुल्लास जीवन है। जीवन की भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन अवस्थायें होती हैं। जीवन कें पुरूषार्थचतुष्टय (धर्मार्थकाममोक्ष) से इनका सम्बन्ध है। जीवन एक व्यक्ति का ही नहीं, अपितु समाज, राष्ट्र तथा ब्रह्याण्ड का भी होता है। साहित्य या कविता में त्रिविध जीवन प्रतिफलित होता है। इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जीवन के इन तीनों रूपों में से केवल एक या दो में ही सर्वथा पर्यवसित काव्यरचना समग्र नहीं कही जा सकती। यह सम्भव है कि किसी रचना में आधिभौतिक संसार का निरूपण प्राधान्येन किया गया हो, किसी में आधिदैविक का तो किसी में आध्यात्मिक का। परन्तु किसी एक की प्रधानता से अन्य रूपों का निराकरण ही नहीं अपितु ग्रहण भी होता है। इस प्रकार काव्य में जीवन की समग्रता, अनुकीर्तन की चार अवस्थाओं के अनुसार ही कहीं प्रतिफलित होता है, कहीं उन्मीलित, कहीं विकसित तो कहीं समुल्लसित। वैदिक परम्परा में वाणी के चार रूप निरूपित किये गये हैं– परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। काव्यरचना प्रक्रिया मे नामान्तर से इनका विनियोग यहाँ स्वीकार किया गया है। सम्प्रति अनेक आधुनिक लक्षण ग्रन्थ समाज के सामने प्रस्तुत है। प्रायः सभी आचार्यो ने काव्यस्वरूप के ऊपर अपने अन्तर्मन से परिश्रम पूर्वक विचार–विमर्श करते हुए स्वमतानुसार निर्दुष्ट लक्षणों का प्रतिपादन किया है। जिसका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कुछ आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत किया गया है, इस शोध पत्र में।

सन्दर्भ–

1. काव्य सत्यालोक पृ0 72
2. काव्य सत्यालोक पृ0 15
3. काव्यालंकारकारिका पृ0 5
4. काव्यालंकारकारिका पृ0 114
5. काव्यालंकारकारिका पृ0 62
6. काव्यालंकारकारिका पृ0 190
7. काव्यालंकारकारिका पृ0 200
8. काव्यालंकारकारिका पृ0 249
9. साहित्यसन्दर्भः पृ0 23
10. साहित्यसन्दर्भः पृ0 25

●●●●

*शोध छात्र, साहित्य विभाग
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय,
का.हि.वि.वि., वाराणसी

शोध-10

शिवमहापुराण में आत्मा का स्वरूप

पिंकी यादव*

आत्मा की प्रकृति के विषय में जानने की उत्सुकता लगभग सभी युगों के दार्शनिकों में पायी गयी है, आत्मा की प्रकृति के विषय में खोज करना दार्शनिकों के लिये एक समस्या के समान ही है शिवमहापुराण में आत्मा के स्वरूप पर विशद् विवरण उपलब्ध होता है, शिवमहापुराण की कैलास संहिता में आत्मा की दार्शनिक विवेचना के पृष्ठभूमि के रूप में पर्याप्त वर्णन किया गया है जो कि इस महापुराण में उपलब्ध आत्मा की महत्वपूर्णता को दर्शाता है, शिवमहापुराण आत्मा के स्वभाव के विषय में अपने स्वतः समन्वित विचारों को महत्व प्रदान करता है, तथा उन्हीं विचारों का वर्णन करने का प्रयास करता है। इसका दार्शनिक अभिगम आलोचनात्मक नहीं है, परन्तु इसमें उन सभी विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया है तथा उन्हें महत्व नहीं प्रदान किया गया है, जिसे इसकी अपनी दार्शनिक व्याख्या करते समय अस्वीकार किया गया है, तथा जिसे आलोचित किया गया है, शिवमहापुराण आत्मा को बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर से पृथक् मानता है, शिवमहापुराण की वायवीय संहिता आत्मा के स्वभाव के विषय में विभिन्न विचारों का खण्डन करती है, तथा उन्हें अस्वीकार करती है, इन विचारों का खण्डन करने और उन्हें अस्वीकार करने के कारण के रूप में यह संहिता तीन कारणों का उल्लेख करती है तथा अपने विचारों को स्थापित करती है, इनमें प्रथम कारण है–स्मृति की उपस्थिति, द्वितीय कारण है– अनियत ज्ञान और तृतीय कारण है– शरीर की उपस्थिति में स्पर्श और ज्ञान की अनुपस्थिति का होना। वायवीय संहिता का यह तृतीय हेतु शरीर का आत्मा के साथ सदृशीकरण को अस्वीकार करता है, यदि शरीर को स्पर्श और ज्ञान के बिन्दुपथ के रूप में माना जाये तो उन्हें (ज्ञान और स्पर्श) को शरीर के साथ निरन्तर रहना चाहिये लेकिन हम देखते है कि मूर्च्छित अवस्था और मृत्यु के बाद शरीर तो रहता है लेकिन उसमें न तो ज्ञान ही रहता है और न ही स्पर्श। द्वितीय हेतु "अनियत ज्ञान" इन्द्रिय का आत्मा के साथ सादृशीकरण को अस्वीकार करता है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह एक निर्धारित ज्ञान होता है तथा इन्द्रियाँ एक सीमित क्षेत्र तक का ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है वे अपने निश्चित सीमा से परे जा कर ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती है इस प्रकार से वे ज्ञान का बिन्दुपथ नहीं हो सकती है, इन्द्रियाँ भिन्न–भिन्न होने से प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती है जैसे नेत्र रूप को ग्रहण करता है किन्तु स्पर्श को नहीं, इसी प्रकार से केवल कान, नाक, अथवा केवल स्पर्श इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता है, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस प्रकार की सीमितता तथा किसी भी प्रकार के निर्धारण की आवश्यकता नहीं है। आत्मा का ज्ञान बिना किसी सीमितता के हो सकता है। प्रथम हेतु आत्मा के संग शरीर, इन्द्रियों और क्षणिक विचारों की सादृश्यता को अस्वीकार करता है, यदि शरीर को ज्ञान का मुख्य पथ माना जाये तो इससे स्मृति की पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं हो सकती है। यह शरीर विभिन्न अवस्थाओं अर्थात् बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था में बदलता रहता है, इसलिये बाल्यावस्था में किया गया अनुभव वृद्धावस्था के शरीर द्वारा याद नहीं रखा जा सकता है हमारे अनुभव के विषय और स्मृति में समानता होनी चाहिये, उन्हें एक समान होना चाहिये, आत्मा के साथ इन्द्रियों के सादृशीकरण की अवस्था में भी स्मृति की पूर्ण रूप व्याख्या नहीं हो सकती है, यदि हम इन्द्रियों को ज्ञान के बिन्दु पथ के रूप में मानते है, तो किसी एक इन्द्रिय के द्वारा अनुभव की गयी घटना को, उस इन्द्रिय विशेष के विनाश के बाद स्मरण नहीं किया जा सकता है, लेकिन हम यह जानते है कि एक व्यक्ति जो जन्म से अन्धा नहीं है परिस्थितिवश बाद में अन्धा हो जाता है, उसे वह सभी घटनायें याद रहती है जिसे वह अपनी आँखों से देख चुका है। इन उपरोक्त अभिप्रायों के आधार पर वायवीय संहिता से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि से बिल्कुल ही भिन्न है वह सबमें है और सबको व्याप्त कर स्थित हो रहा है, यह सभी जगह है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से सभी को इसका ज्ञान नहीं होता है, यह सभी अनुभूत की हुई घटनाओं को स्मरण रखती है, तथा सभी जानने योग्य वस्तुओं को यह जानती है।

शिवमहापुराण की विभिन्न संहिताओं में आत्मा के स्वरूप को लेकर विभिन्न विचार देखने को मिलते हैं, शिवमहापुराण में आत्मा के स्वरूप को लेकर विभिन्न मत होने के बावजूद इसका अभिगम समन्वित है, तथा इसके विभिन्न मतों में एकबद्धता देखने को मिलती है यह सांख्य के पुरुष, आगम के पशु तथा उपनिषद् के जीव और आत्मन् को अद्वैत की रोशनी में समन्वित करने का प्रयास करता है, तथा शिवमहापुराण की विभिन्न संहिताओं में यह विभिन्न विचार उपलब्ध होते है, इन विभिन्नताओं के बावजूद शिवमहापुराण इस पर बारम्बार जोर देता है कि यहाँ आत्मा और शिव के बीच समानता है, वास्तविकता तो यह है कि आत्मा में अनेकत्व है ही नहीं, अनेकत्व केवल आकृति में अवस्थित रहता है, वास्तविकता में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। शिवमहापुराण में यह समन्वित दृष्टिकोण इसके प्रकृति, माया, अविद्या, मल इत्यादि के सादृशीकरण के रूप में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ये सभी विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में अन्तर उत्पन्न करने वाले सिद्धान्त हैं। शिवमहापुराण में इनको एक समान माना गया है, तथा इन्हें शक्ति की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति को शिवमहापुराण में शिव से अभिन्न माना गया है आत्मा के स्वरूप के विषय में शिवमहापुराण की विभिन्न संहिताओं के विचार इस प्रकार से वर्णित किये गये हैं– वायवीय संहिता में वर्णित है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, चेतन एवं परम आनन्दमय है, यह अविनाशी, शरीरों में होकर भी शरीर रहित तथा अचल है, यह स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक नहीं है, आत्मा के विषय में ऊपर, नीचे और

तिरछेपन का विधेय सम्भव नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप में आत्मा सुख–दुःख और भ्रान्ति से स्वतन्त्र है लेकिन जब इस व्यापक, नित्य और अविनाशी आत्मा का संयोग विपत्ति के बीज रूप इस शरीर से, जो कि अशुद्ध, दुख रूप, चल, क्षणिक, विनाशी है से होता है तो यह सुख–दुःख और भ्रम का विषय बन जाता है। जिस प्रकार पानी देने से खेत में से अंकुर निकल आता है इसी प्रकार से अज्ञान रूपी जल से सींचने के कारण देह से अंकुर के समान कर्म उत्पन्न होते हैं तथा यह कर्म मनुष्य के बन्धन के कारण बनते हैं यह देह अत्यन्त असुख रूप, रोगी तथा मृत्यु मुखमें पतित होने वाला है।[4] इस शरीर से संयोग होने के कारण आत्मा को यहाँ 'पशु' कहा गया है, ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी को पशु संज्ञा से अभिहित किया गया है क्योंकि वे एक या अन्य शरीरों से सम्बन्धित है। यह शरीर ही पाश (बन्धन) है इस शरीर से जुड़कर आत्मा सुख का आनन्द लेती है और दुःख को सहन करती है, यह ईश्वर के विलास का साधन है, इस शरीर की अपनी शक्ति और ज्ञान सीमित है, आत्मा ही परमसत्ता है और यह शरीर के ऊपर अपना नियंत्रण रखती है यह शरीर को परिचालित करती है, नियन्त्रित और इस शरीर को देखती है। यह शरीर आत्मा को नहीं देख सकता है, और आत्मा के ऊपर इसका कोई नियन्त्रण नहीं होता है, जीव अज्ञानी होने के कारण सुख–दुःख का स्थान है। यह शरीर दुःख और क्लेश का गोदाम है, तथा मृत्यु का केन्द्र है, यह मृत्यु के बाद पतित हो जाता है। इस प्रकार से आत्मा का वर्तमान शरीर प्रथम शरीर नहीं है और न ही अन्तिम शरीर है। अतीत जीवन में यह आत्मा सहस्त्रों शरीर से सम्बन्धित थी और भविष्य जीवन में भी इस आत्मा के इस प्रकार के सहस्त्रों शरीर होंगे।[5] किसी भी एक शरीर में यह निरन्तर नहीं रहने पाती है, शरीर के इस क्रम की तुलना आकाश के मेघों से की जा सकती है, जो आते–जाते रहते हैं, और सूर्य को आच्छादित करते हैं। आत्मा चमकते हुए सूर्य की भाँति, जिसे विभिन्न बादलों के समूह द्वारा आच्छादित कर लिया जाता है, बिना किसी परिवर्तन और रूपान्तरण के रहती है। जैसे–बादलों की गति सूर्य में प्रतीत होती है, उसी प्रकार से शरीर का परिवर्तन और रूपान्तरण आत्मा में उनके पारस्परिक संबंधों में प्रतीत होता है। जब यह शरीर या पाश आत्मा की शक्ति और ज्ञान को सीमित कर देता है, तब यह परमात्मा को जानने योग्य नहीं रह जाती है, परमात्मा शरीर और आत्मा दोनों से उत्कृष्ट है और यह दोनों को परिचालित, नियंत्रित ओर प्रेरित करता है। परमेश्वर शिव के द्वारा निर्देशित और नियंत्रित होकर आत्मा अपने स्वतः किये गये कर्मों के परिणामों का आनन्द लेती है और अपने कर्मों के अनुसार ही यह स्वर्ग और नर्क, सुख और दुःख को प्राप्त करती है। आत्मा मल या अज्ञानता के कारण कर्मों को क्रियान्वित करती है और उसके परिणामों का आनन्द लेती है यद्यपि अपने वास्तविक स्वरूप में यह शुद्ध रूप है तो भी अपने कर्मों का परिणाम प्राप्त करने के लिये यह माया के पंचकचुकों के द्वारा सीमित और आवृत्त कर दी जाती है, यह आत्मा पर एक आवरण डाल देती है, यह सीमेत और आवृत्त आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है। शिवमहापुराण कहता है कि मल का पूर्ण रूप से विनाश भक्ति के द्वारा ही सम्भव है, जिससे कि परम शिव के अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, मल का पूर्ण रूप से क्षरण हो जाने के पश्चात् जीव (आत्मा) शिव के समान हो जाता है।

इस पुराण की सभी संहिताओं में यह बारम्बार व्याख्यायित हुआ है कि आत्मा और शिव के बीच कोई तात्विक मतभेद नहीं है और जो भी मतभेद दृष्टिगोचर होता है वह केवल अविद्या, मल या उपाधि के कारण ही होता है एक ओर तो वे स्वयं अपने के पूर्णतः समरूप है तो दूसरी ओर वे परम् सत् के संग पूर्णतः समरूप है परन्तु यह सदृशीकरण सभी के लिये नहीं है यह केवल उन्हीं लोगों के लिये है जो इन भिन्नताओं और अनेकत्व से मुक्ति प्राप्ति के लिये एकत्व और समानता के महत्व को समझते है। यह भिन्नता और अनेकत्व सभी के लिये और सर्वदा के लिये अदृश्य नहीं होगी, तथा तत्वों में जो समानता है, वही भी सभी आत्माओं को सभी अर्थों में समान नहीं बनाती हैं। यह केवल दर्शाती है कि वे सक्रिय रूप से बराबर है वास्तव में उन में समानता नहीं है जब यह कहा गया है कि तात्विक रूप में सभी आत्मायें समान हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे समान रूप से परमैश्वर्य को भी प्रकट करती हैं शक्ति या तत्व में कदाचित उनमें कोई विभिन्नता या वर्गीकरण नहीं हो सकता है परन्तु प्रकटीकरण और वास्तविकता के विचार की दृष्टि से उनके पदों में कई सोपान है, और इस आधार पर वे विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत हो सकते हैं, प्रथम में आत्मा दो वर्गों में विभाजित होती है– मुक्त और बुद्ध आत्मा। इसके पश्चात् दो उपश्रेणियों का विभाजन है लयाधिकारी और भोगाधिकारी। लयाधिकारी वे हैं जो प्रलय की ओर जाने के योग्य है तथा भोगाधिकारी वे माने गये है जो आनन्द का उपभोग करने के योग्य हैं, उनके ज्ञान और ऐश्वर्य में विषम तारतम्यता देखने को मिलती है, अर्थात कुछ लोग अधिक ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त होते हैं, तथा कुछ लोग कम।[6]

शिवमहापुराण सांख्य, आगम और शैव सिद्धान्त के विचारों को स्वीकार करता है, यह आत्मा के स्वरूप के बारे में एक सामान्य कड़ी को खोजने का प्रयास करता है तथा इन सभी का एक साथ समाकलन करता है भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से यह एकत्व और अनेकत्व की व्याख्या करता है तथा इन्हें अस्वीकार किये बिना इनकी एक साथ व्याख्या और समन्वय करता है।

सन्दर्भ–

1. शिवमहापुराण 7/1/5/43–44
2. वही0 – 7/1/5/46
3. वही0 – 7/1/5/48–49
4. वही0 – 7/1/5/50–54
5. वही0 – 7/1/5/60–63, 7/2/2/11
6. वही0 – 7/1/5/50–54
7. वही0 – 7/1/5/14, 18, 20, 22, 25–28
8. वही0 – 7/2/2/12
9. वही0 – 6/16/45
10. वही0 – 7/1/31/63, 64

●●●●

*शोध छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग
का0हि0वि0वि0

शोध-11

श्रीमद्भागवत में प्रतिपाद्य भक्ति का स्वरूप

लोक पाल शर्मा*

श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है, यह समस्त विद्वानों को मान्य है। इस ग्रन्थ का मुख्य सिद्धान्त ही यह है कि भक्तिप्राप्त पुरूष के लिए कोई भी साधन और साध्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। मनुष्यमात्र सुख की इच्छा रखता है और वह सुख भी दुःख से सदा असम्बद्ध हो, यह बात सभी धर्मो, सभी देशों और सभी समाजों में एक रूप से मानी हुई है। उस दुःख रहित एवं अत्यधिक सुख की प्राप्ति के साधन प्रत्येक धर्म, देश और समाज में भिन्न–भिन्न हैं। इस भेद का कारण भी सुख की प्राप्ति के साधनों के विषय में भिन्न–भिन्न विचार परिस्थितयाँ तथा विभिन्न आचार है। किन्तु संसार में जितने भी सुख के साधन विद्यमान है उन सबका अन्तर्भाव ज्ञान, कर्म और भक्तिरूप इन तीन साधनों में ही होता है। श्री व्यास जी ने भागवत में कहा है–

"योगशास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञान कर्म च भक्तिश्च् नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित।।" (भा0पु0)

केवल चित्त की द्रुति होना भक्ति नहीं है। भक्ति वह वस्तु है जो अखण्डानन्द दायक, जगत्कारण नित्यत्रिकाल में भी अविनाशी, अविपरिणामशील ऐसे परमेश्वर में चित्त का अखण्ड रूप से सर्वदा लगा रहना ही भक्ति का स्वरूप है। जैसे गंगा का प्रवाह दिन रात अखण्डरूप में समुद्र में गिरता रहता है।

नारद भक्ति सूत्र में भी भक्ति के स्वरूप को इस प्रकार से बताया गया है। "भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है।" मनुष्य जब इसे प्राप्त कर लेता है तब सभी उसके प्रेमपात्र बन जाते हैं। वह किसी से घृणा नहीं करता, वह सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाता है।" (ना0 भा0 सू0 1.1) प्रेम के द्वारा मनुष्य को ईश्वर से जोड़ना ही भक्ति है। यही मानव मन को ईश्वर की ओर उन्मुख करने का सर्वाधिक सुगम एवं सरल मार्ग है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधन चतुष्टय सम्पन्न एवं ब्राह्मण अधिकारी है। श्रीमद्भागवत की दृष्टि में तो प्राणिमात्र ही भक्ति के द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करता है।

भक्ति की व्युत्पत्ति : 'भज्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय जुड़ने से भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। अष्टाध्यायी के अनुसार 'भज्' धातु सेवार्थक है। सेवा भक्ति का एक प्रकार है जो बड़ों या आदरणीयों के प्रति होती है। यदि यही सेवा अपने से छोटी के प्रति भी होती है उसे सुश्रुषा की संज्ञा देते हैं। भक्ति के मूल में श्रद्धा का होना अनिवार्य है, बिना श्रद्धा के भक्ति सम्भव नहीं हैं। जो जिस पर श्रद्धा करता है वह उसे अपने से श्रेष्ठ समझता है। श्रद्धालु के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जिस पर श्रद्धा कर रहा है वह सौन्दर्य सागर हो, सभी अंगों वाला हो, या धन वाला हो। भारतीय ऋषियों ने सदा गुणों को ही महत्व दिया है तथा अधिकाधिक गुणों से युक्त प्राणी के ऊपर ही श्रद्धा प्रकट की है। श्रीमद्भगवतपुराण के सातवें स्कन्ध में प्रह्लाद ने भक्ति के नौ अंग बताते हुए कहा है–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चना वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। –(भा. पु. 7/5/23)

यह नौ प्रकार की भक्ति तीन विभागों में विभक्त है–
(1) नाम महिमा, (2) मूर्ति उपासना, (3) श्रद्धा विशेष। इनमें नाम महिमा के अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन और स्मरण इन तीन प्रकार की भक्ति को लिया गया है। मूर्ति उपासना के अन्तर्गत पादसेवन, अर्चन तथा वन्दन को लिया गया है तथा मूर्ति उपासना भक्ति के अन्तर्गत दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन को लिया गया है।

भगवान के साथ मिलन ही जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक साधन है। भक्ति का अर्थ है– जिस किसी भी उपाय से भगवान की सेवा करना। भगवान् की उपासना, भगवान की सेवा, भगवान के शरणागति–सभी भक्ति के अन्तर्गत है। साधारणतया भगवानके साथ मिलन के लिए तीन मार्गो का शास्त्रों में उल्लेख है– कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। वेदों का पूर्वभाग कर्मकाण्ड तथा उत्तर भाग ज्ञानकाण्ड है। भक्तिज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दोनों का समन्वय करती है। कर्म और ज्ञान परस्पर भिन्न होने पर भी एक दूसरे के अंग बन जाते हैं। ज्ञानहीन कर्म केवल कृत्रिम और यन्त्र की क्रिया के समान प्राणहीन होता है। उनमें शक्ति नहीं रहती। भक्ति, कर्म और ज्ञान दोनों की सहायक बनकर दोनों में ही सरसता की वृद्धि करती है। उपासना के साथ ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं हैं। कर्म और ज्ञान दोनों मार्ग अनादि काल से उपनिषद् और पुराणों में प्रसिद्ध है। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही भक्ति योग के सहकारी हैं। ज्ञान निरपेक्ष कर्म स्वर्ग प्राप्ति का हेतु बनता है। कर्म और ज्ञान का जहाँ मिलन होता है, वहाँ भक्ति उद्बुद्ध होती हैं। तब ज्ञान; कर्म और भक्ति तीनों का एक ही लक्ष्य मुक्ति होता है।

श्रीमद्भागवत में तत्वज्ञो द्वारा भक्ति के अनुष्ठान के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। कुन्ती ने भगवान के अनेक प्रयोजनों में एक मुख्य प्रयोजन अमलात्मा परमहंस महामुनीद्रों के लिए भक्तियोग का विधान करना बतलाया है। एक प्रसंग में कहा गया है– "भगवान उरूक्रम में ऐसे गुण ही है, जिनमें आकृष्ट होकर आत्माराम निर्ग्रन्थ महामुनि भी उनमें अहैतुकी भक्ति करते है। श्री शुकदेव जी ने पारमहंस्य के अध्ययन में प्रवृत्ति का हेतु बतलाते हुए कहा है।

परिनिष्ठतोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतंचता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्।। –(पा0 संहि)

अतः हम इस प्रकार कह सकते है कि भक्ति स्वभाव से ही स्वरूप, दिव्य एवं चिन्मय है। भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए महामुनि शाण्डिल्य कहते हैं– 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर में निरतिशय राग का नाम ही भक्ति है। देवर्षि नारद ने भी अपने भक्ति सूत्र में भक्ति की इसी प्रकार की परिभाषा दी है– 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। भगवान के प्रति एक निष्ठ प्रेम ही 'भक्ति' है। भक्ति अमृतस्वरूपा है। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। इस (भक्ति) को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध होता है, अमर होता और परितृप्त होता है।

●●●●

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-12

युवाओं में मद्यपान एवं मादक द्रव्य व्यसन की बढ़ती प्रवृत्ति

राजीव कुमार त्रिपाठी*

भारत में युवकों की एक अच्छी संख्या है तथा समाज में उनका एक विशेष स्थान है। उन पर देश का भविष्य निर्भर है। मद्यपान एवं मादक द्रव्यों के प्रयोग के विषय में वे खतरे से घिरे ग्रुप (समूह) में आते हैं। वे अपने जीवन के उस दौर में होते हैं जिस समय उन पर अनेक प्रकार के कुप्रभावों का प्रभाव पड़ सकता है। युवावस्था व्यक्ति के निर्माण का काल कहलाता है। ऐसे समय में मद्यपान एवं मादक द्रव्य उनके जीवन में घातक विष के समान हैं, जो उन्हें तनाव, कुंठा, जीवन की दिशाहीनता व यथार्थ से पलायन की ओर अग्रसरित कर सकता है। युवा वर्ग सभी कालों और सभी स्थानों पर समाज का एक गतिशील व प्रगतिशील घटक होता है। विश्व इतिहास में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि युवा राष्ट्रों के भाग्य विधाता व व्यवस्थापक रहे हैं। सभी कालों में सभ्यता की उत्पत्ति युवाओं के जोखिम, साहस, कल्पना व त्याग में परिलक्षित होती है। युवा निश्चित रूप से शक्ति, आदर्श, बेचैनी (अस्थिरता), निश्चय ओर त्याग का प्रतीक एवं मूर्त रूप है। युवा वास्तव में उत्साह और सर्वांगीण क्रियाओं के सम्पादन की क्षमता से परिपूर्ण है जो ऊर्जा के उपयोग अथवा अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। युवा वर्ग जब अपनी रोज़ की समस्याओं का समाधान व्यक्तिगत तथा पारिवारिक स्तर पर खोजने में असफल हो जाता है तब वह नशे की ओर आकर्षित होता है। बढ़ते हुए उपभोक्तावाद में युवा वर्ग की बेबसी बढ़ रही है, समाज का ढांचा कमजोर पड़ता जा रहा है, परिवार का विघटन हो रहा है, सम्बन्धों में बिखराव उत्पन्न हो रहे हैं, कुछ कहने सुनने को नहीं रहा है, नैतिकता भंग हो रही है, ऐसे में युवा वर्ग राहत का कोई आसान तरीका ढूँढ़ना चाहता है। ऐसी स्थिति में युवा वर्ग को एक आसान तरीका यह दिखाई पड़ता है कि वह अपने गम को अपनी बेबसी को किसी नशे में डुबो दें। युवा समाज में मद्यपान एवं मादक द्रव्य के सेवन की प्रवृत्ति दिनों–दिन बढ़ती जा रही है। इसमें मद्यपान सर्वाधिक प्रचलित है। आधुनिक समाज में मद्यपान को प्रतिष्ठा का प्रतीक समझा जाने लगा है। यदि कोई प्रतिष्ठित संभ्रान्त व्यक्ति मदिरापान का निषेध करता है तो उसका उपहास किया जाता है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि मदिरापान एक सामान्य आचार के रूप में फैलता जा रहा है। इसके अनेक कारण हैं। कुछ लोग अपनी शारीरिक व्याधि या पीड़ा अथवा मानसिक क्लेश को भुलाने के लिए मदिरापान का सहारा लेते हैं जबकि अनेक व्यक्ति रात को अच्छी नींद आने के लिए या अपनी वैयक्तिक उलझनों से बचने के लिए मदिरा का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग आधुनिकता के प्रतीक स्वरूप मदिरापान करते हैं। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के अनुसार धूम्रपान करने वाले 1000 किशारों में 500 की मौत तम्बाकू संबंधित बीमारियों से होगी जबकि सिर्फ 250 की प्रौढ़ अवस्था में और शेष 250 की वृद्धावस्था में सामान्य मौत होगी।

मद्यपान एवं मादक द्रव्य के विश्व में 190 मिलियन उपभोक्ता हैं। भारत में यह संख्या 70 मिलियन है। ये संख्या छोटे शहरों एवं पिछड़े क्षेत्रों में अधिक है। इनमें 12–18 वर्ष आयु समूह की जनसंख्या सर्वाधिक है (मैरीन्यूज, 2009)। स्पष्ट है कि विवाह पार्टियों, उत्सवों या जलसों में शराब का खुलकर प्रयोग किया जाता है यहाँ तक कि अनेक लोगों की यह धारणा सी बन गयी है कि शराब के बिना पार्टी का रंग फीका रहता है। कुछ लोगों का यह भ्रम है कि नशा करने से मनुष्य में काम करने की स्फूर्ति आती है और उसकी कार्य क्षमता बढ़ती है। कामुक व्यक्ति यह समझते हैं कि नशा करने में कामोत्तेजना मिलती है अतः वे कामवासना में लिप्त रहने के लिए मदिरा या अन्य नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं। यही कारण है कि यौन–अपराध करने वाले व्यक्ति नशा अधिकता से करते हैं, जिसमें उनमें सोचने–समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है और वे बलात्कार, मारपीट, हत्या जैसे जघन्य अपराध कर बैठते हैं। मदिरापान के परिणामस्वरूप परिवार में अशांति, कलह, आर्थिक तंगी तथा अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्यसनी व्यक्ति न तो स्वयं किसी के साथ हिल–मिलकर रह सकता है और न अन्य व्यक्ति ही उसकी कुसंगति में रहना पसंद करते हैं। नशे की हालत में व्यक्ति आत्मसंयम खो बैठता है और उसका व्यवहार बेढंगा हो जाता है। वह दूसरों के साथ मारपीट, झगड़ा, लड़ाई, गाली–गलौज आदि करते नहीं सकुचाता। अपने अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार के कारण वह समाज के लिए बोझरूप हो जाता है। अशिष्टता और आक्रामक आचरण के कारण नशा करने वाले व्यक्ति के प्रति लोगों को सहानुभूति नहीं रहती और वे ऐसे व्यक्ति से घृणा करने लगते हैं और किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते।

मद्यपान एवं मादक द्रव्य के सेवन के तीन प्रमुख कारण पाये जाते हैं – शारीरिक कारण, व्यक्तित्व सम्बन्धी कारण, वातावरण सम्बन्धी कारण। शारीरिक कारण में जब व्यक्ति अधिक चिंताग्रस्त हो, व्याकुल हो, उसे किसी तरह भी चैन नहीं मिल रहा हो तब मद्यपान एवं मादक द्रव्यों का प्रयोग करने पर शरीर में कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिनसे व्यक्ति की बेचैनी कम हो जाती है। व्यक्ति प्रायः जीवन में व्याकुल करने वाली समस्याओं व आशंकाओं से बचने के लिए या कुछ सुखद अनुभव पाने के लिए इनका सेवन करते हैं। व्यक्तित्व सम्बन्धी कारणों में प्रायः सभी मद्यपान एवं मादक द्रव्यों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में किसी न किसी प्रकार की व्यक्तित्व कमियाँ पायी जाती हैं। उनमें प्रायः व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ जैसे संवेगात्मक

अस्थिरता, अपरिपक्वता और आवेगपूर्णता पाई जाती है।

मादक पदार्थों का प्रयोग समाज के कई क्षेत्रों में देखने को मिलता है। इस पर जो अनुसंधान हुए हैं वे बताते हैं कि विद्यार्थियों में मादक पदार्थों का प्रयोग बहुत अधिक होता है। भारत में भी प्रमुख शहरों में मादक पदार्थों के सेवनकर्ताओं की संख्या आंकी गयी है। भारत में भी प्रमुख शहरों में मादक पदार्थों के सेवनकर्ताओं की संख्या में वृद्धि मिल रही है।

संवेदनमंदक मादक पदार्थ के व्यसनियों का उपचार और पुनर्वास भारत सरकार के सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय द्वारा देश में नशीली दवा की मांग में कमी सम्बन्धी कार्यक्रमों के सम्बन्ध में एक केन्द्र बिन्दु के रूप में मद्यपाननिषेध तथा नशीली दवा दुरुपयोग निवारण सम्बन्धी योजना को वर्ष 1985–86 से कार्यान्वित कर रहा है। यह मंत्रालय का सोचा समझा दृष्टिकोण है कि नशीली दवा के व्यसनियों की नशामुक्ति और पुनर्वास सम्बन्धी कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के लिए अत्यधिक लचीलेपन तथा नवप्रवर्तन के साथ सतत् तथा वचनबद्ध/प्रतिबद्ध प्रयास की आवश्यकता है जो कारगर ढंग से केवल स्वैच्छिक क्षेत्र द्वारा किया जा सकता है। तदनुसार, इस योजना के अन्तर्गत, यद्यपि व्यय का वहन सरकार द्वारा किया जाता है, स्वैच्छिक संगठन समस्त प्रकार की सेवाएँ जैसे – परामर्श तथा जागरूकता केन्द्र, उपचार तथा पुनर्वास केन्द्र, नशामुक्ति शिविरों तथा जागरूकता कार्यक्रम आदि उपलब्ध कराते हैं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत, यह मंत्रालय देशभर में 361 स्वैच्छिक संगठनों को 444 केन्द्र चलाने के लिए सहायता देता है। इस योजना के अन्तर्गत वर्ष 2003–04 में 22.65 करोड़ रुपये खर्च किए गए।

मद्यपान एवं मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्तियों का अध्ययन करने से यह भी पाया गया है कि जिज्ञासा तथा किसी नवीन वस्तु का अनुभव करने सम्बन्धी जोखिम किसी युवक को इनका आदी बना देता है। वातावरण सम्बन्धी कारणों में मद्यपान एवं मादक द्रव्यों का सेवन करने के पीछे कुछ सामाजिक व सांस्कृतिक कारक भी होते हैं। गृह–कलेश, परिवार का दूषित वातावरण, माता–पिता व परिवार के अन्य सम्बन्धियों का व्यवहार, स्नेह का अभाव, माता–पिता की बीमारी, शिक्षकों के ध्यान की कमी, अपराधियों की संगति आदि कुछ ऐसे कारक हैं जिनके कारण एक व्यक्ति मद्यपान एवं मादक द्रव्यों का सेवन प्रारम्भ कर सकता है।

सन्दर्भ–

1. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ व भरत अग्रवाल (2008): सामाजिक समस्याएँ, दिल्ली, पृ. 155.
2. 'धूम्रपान से दिल के अधिक दौरे पड़ते हैं', सन्मार्ग, वाराणसी 1 जून, 2004, पृ. 2.
3. दोषी, एस.एल. एवं पी.सी. जैन (2009): भारतीय समाज, संरचना और परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 417.
4. आहूजा, राम (2000): सामाजिक समस्यायें, रावत पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, पृ. 419–420.
5. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ (2008) : सामाजिक समस्यायें, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 264.

●●●●

*शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-13

कालिदासकृत रघुवंश में वर्णित कुलपति वशिष्ठ के गुरूकुल से प्राप्त शिक्षाओं की समीक्षा तथा उनकी समसामयिक उपयोगिता

डॉ. समीर कुमार पाण्डेय*
डॉ. बीना सिंह**

जब प्रथमतः अंग्रेजों का भारत में आना हुआ तब भारत संसार की दृष्टि में अन्धकारपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु कविकुलगुरु कालिदास की अमर कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ने भारत के प्रति विश्व का आदर जगाने का उल्लेखनीय कार्य किया। भारत में ब्रिटिश न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने 1789 ई0 में शाकुन्तलम् का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था। जार्ज फारेस्टर ने उक्त अनुवाद को 1791 ई0 में जर्मन भाषा में प्रस्तुत किया, जिसे पढ़कर जर्मनी के महाकवि गेटे ने जो हार्दिक भावनायें व्यक्त कीं, वह विश्वविश्रुत है – "यदि वसन्त एवं ग्रीष्म का एक साथ आनन्द लेना हो अथवा एक ही स्थल पर स्वर्गलोक एवं भूलोक के ऐश्वर्य को प्राप्त करना हो तो शाकुन्तलम् का सेवन करना चाहिये।[1]"(पढ़ना चाहिये तथा आनन्द उठाना चाहिये) इस अनुवाद ने पाश्चात्य जगत को भलीभाँति समझा दिया कि भारतीयों की संस्कृति अति श्रेष्ठ एवं आदरणीय है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के रचयिता कालिदास के विषय में भारतीय परम्परा यह भी कहती है कि आज तक कालिदास के समान कोई कवि हुआ ही नहीं।[2] कालिदास का साहित्य भारत के स्वर्णकाल का प्रतिनिधित्व करता है तथा भारत के विश्वगुरुत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कालिदास के साहित्य में अनेक स्थलों पर शैक्षिक तत्वों की उपस्थिति प्रत्यक्ष होती है। मालविकाग्निमित्रम् में नाट्याचार्य गणदास कहता है कि "श्रेष्ठ लोग शिक्षक की उस शिक्षा को शुद्ध कहते हैं जो आप लोगों के सम्मुख काली नहीं पड़ती जैसे अग्नि में कञ्चन (सोना) काला नहीं पड़ता।[3]" वे शिक्षा को जिसे प्रकृत स्थल पर 'उपदेश' शब्द से व्यक्त कर रहे हैं – कञ्चन से उपमित करते हैं अर्थात् शिक्षा स्वर्ण के समान है। जिस प्रकार स्वर्ण अनल में तप कर और भी दमक उठता है, उसी प्रकार शिक्षा व्यक्ति को सुसंस्कृत, समाजोपयोगी एवं मूल्यवान बनाती है। शिक्षक की शिक्षा की सार्थकता इसी में है कि शिक्षार्थी विपरीत परिस्थितियों में भी आत्मबल बनाये रखकर अपनी आन्तरिक एवं बाह्य ऊर्जा का सकारात्मक उपयोग कर समाज के लिए सोने सा खरा उतरे और अपनी स्वतन्त्र एवं मौलिक सत्ता सिद्ध करे। आज आवश्यकता है कालिदास के उस शैक्षिक–दर्शन के पुनर्जागरण की जो व्यक्ति को कञ्चन के समान बना देता है जो विपरीत परिस्थितियों में भी अपना 'मूल्य' बनाये रखता है। आज आवश्यकता है उस शिक्षक की जो अपनी शिक्षा के माध्यम से शिक्षार्थी को कुन्दन सा निखार दे। आज आवश्यकता है उस शिक्षार्थी की जो शिक्षा प्राप्त कर स्वर्ण सा महत्व प्राप्त करे, मूल्यवान बने। आज आवश्यकता है उस शिक्षा की जो शिक्षार्थी को स्वर्ण सा दमका कर उसका व्यक्तित्व एवं सामाजिक मूल्य बढ़ाये जिससे वह भौतिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर समुन्नत हो तथा समाजोपयोगी बन सके।

प्राचीन भारत में गुरुकुलों में शिक्षा दी जाती थी जो नगर से दूर शान्त वातावरण में वन में हुआ करते थे। इन गुरुकुलों को आश्रम भी कहा जाता था, जिनमें विद्यार्थी रहते थे तथा शिक्षा प्राप्त करते थे। कालिदास के साहित्य में अनेक गुरुकुलों की चर्चा आती है। यथा वशिष्ठ, वरतन्तु तथा वाल्मीकि से सम्बन्धित गुरुकुल (रघुवंश में) तथा कण्व और मरीचि से सम्बन्धित गुरुकुल की चर्चा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आयी है। महर्षि वशिष्ठ ब्रह्माजी के गोद से उत्पन्न हुये थे। ये व्यास देव के प्रपितामह थे। वे ज्ञान तथा तप के प्रकट रूप ही थे। इन्हें ही भगवान श्रीराम के शिक्षा–गुरू होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था[4]। ये सूर्यवंशी राजाओं के कुलपुरोहित थे तथा कई वैदिक सूक्तों के ऋषि थे। ऋग्वेद के सातवें मण्डल में इनके सूक्त संग्रहित है। इनके नाम की "वशिष्ठ स्मृति" नामक स्मृति ग्रन्थ मिलता है तथा योगवाशिष्ठ के प्रणेता माने जाते हैं। ये ब्राह्मणोचित प्रतिष्ठा तथा शक्ति के आदर्श प्रतिनिधि के रूप में विख्यात हैं। विश्वामित्र ने उनकी समानता करने का बहुत प्रयास किया था और इसी कारण तत्सम्बन्धी अनेक उपाख्यान प्रचलित हो गये[5]।

कालिदास ने वशिष्ठ को कुलपति कहा है।[6] कुलपति वह ऋषि होता है जो दस हजार विद्यार्थियों का पालन पोषण करता था तथा उन्हें शिक्षित करता था[7]। कालिदास ने लिखा है कि जब महाराज दिलीप की आँख खुली तब उस समय उनके कर्ण कुहरों में विद्यार्थियों को पढ़ाते हुये वशिष्ठ के शब्द पड़े[8]। रघुवंश के प्रथम सर्ग के श्लोक सं0– 49से 95 तक वशिष्ठ के गुरूकुल का वर्णन मिलता है तथा द्वितीय सर्ग में संक्षिप्त रूप में वशिष्ठ के गुरूकुल का चित्रण द्रष्टव्य है। कालिदास के अनुसार वशिष्ठ का आश्रम हिमालय पर था। वशिष्ठ की पत्नी का नाम अरुन्धती था। कालिदास ने वशिष्ठ के लिये रघुवंश के प्रथम सर्ग में गुरू (1–57) अथर्वनिधि (1–59) मन्त्रकृत् (1–61) होता (1–62) ब्रह्मवर्चस् (1–63) ब्रह्मयोनि (1–64) विधाता (1–70) भगवान् (1–71) तात (1–72) ऋषि (1–73) भवितात्मा (1–74) निमिन्तज्ञ, तपोनिधि (1–86) दोषज्ञ (1–94) तथा कुलपति (1–95) शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का निहितार्थ करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे महान् विद्याव्यसनी, गुरु, आचार्य, शिक्षक कुलपति, तथा कुलपुरोहित आदि थे जिन्हें अनेक विद्याओं का सञ्ज्ञान था।

वशिष्ठ दिलीप को नन्दिनी गौ की सेवा करने की विधि बतला रहे हैं। वे कहते हैं राजन् जंगली कन्दमूल फल खाते हुये तुम सदा इस नन्दिनी के पीछे चलकर इसको अभ्यास से विद्या की तरह प्रसन्न करने का प्रयत्न करो[9]। इस श्लोक से सबसे बड़ी शिक्षा यही मिलती है कि अभ्यास से ही विद्या की प्राप्ति होती है। अनभ्यास से विद्या विषम हो जाती है, विस्मृत हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि " सास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि सेइअ[10] अर्थात् पढ़े हुये शास्त्र का भी अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं सेवन करते रहना चाहिये यह विद्वान्, विद्यार्थी तथा सबके हित में है। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने दिलीप को पुत्र प्राप्ति के लिये गोचारण की सलाह दी थी।[11] गो भारतीय संस्कृति में परमादरणीय है। गो की देह में देवताओं का निवास होता है। गोदुग्ध आयुर्वेदिक औषधि है। गौ प्राचीनकाल से ही भारत की सम्पदा रही है। गो पर भारत की कृषि एवं अर्थ व्यवस्था आधारित रही है। यदि पुनः गौ को केन्द्रबिन्दु मानकर कृषि एवं अर्थ के क्षेत्र में कार्य किये जाँय तो हमारी धरती ऊसर बंजर होने से बच जायेगी। वह शस्यश्यामला रहेगी तथा सोने चाँदी उगलेगी। आचार्य वशिष्ठ की गो सेवा विषयक शिक्षा सर्वथा समीचीन एवं सार्थक है। गो सेवा से समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। वशिष्ठ ने नन्दिनी की ओर संकेत करते हुये कहा हे राजन् अपनी सिद्धि को पास आयी हुई समझो क्योंकि यह कल्याणी नाम लेते ही आ गयी।[12] यहाँ वशिष्ठ नन्दिनी को कल्याणी (कल्याण करने वाली) कहते हैं और मल्लिनाथ (रघुवंश के टीकाकार) कल्याणी का अर्थ मङ्गलमूर्ति करते हैं। अर्थात नन्दिनी मंङ्गलमूर्ति है वह सर्वविधि रक्षणीय एवं आदरणीय है उधर देशकाल को समझने वाले, प्रसन्न धर्मपत्नी सहित विनयशाली शिष्य राजा दिलीप ने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा को 'ऐसा ही होगा' कहकर स्वीकार कर लिया''[12] ध्यातव्य है कि यहाँ राजा दिलीप शिष्य है और ऋषि वशिष्ठ गुरु है। शिष्य कितना भी उच्च हो, कितना भी योग्य हो गुरु की आज्ञा मानने में ही उसका कल्याण है। गुरु शिष्य के सर्वविधि कल्याण की कामना करे और शिष्य गुरु के आदेशों का अक्षरसः पालन करे यही उक्त कथन की शिक्षा है। गुरु की वाणी में सत्यता एवं मधुरता का आधान होना चाहिए। गुरु को अपने शिष्य की सुविधाओं का भी ध्यान रखना चाहिये। रात्रि में विद्वान सत्य एवं मधुरभाषी ब्रह्मा जी के मानस पुत्र वशिष्ठ जी ने प्रसन्नचित्त राजा दिलीप को सोने के लिये आज्ञा दी।[13] यहाँ ध्यातव्य है कि गुरु वशिष्ठ के कहने पर ही शिष्य दिलीप सोने के लिये गये और वशिष्ठ ने रात्रि में सोने के लिये आज्ञा दी।[14] इससे यह शिक्षा ध्वनित होती है विद्यार्थी को रात्रि में ही शयन करना चाहिये और गुरु को चाहिये कि वह रात्रि में शिष्य को शयन की आज्ञा दे दे। यहाँ कालिदास ने गुरु वशिष्ठ के लिये ''दोषज्ञ'' दोषों को जानने वाला कहा है। दोषों को जानने वाला ही तो दोष को दूर करता है। अमरकोश में दोषज्ञ का आशय विद्वान ही है। वशिष्ठ 'सुनृतवाक्' है अर्थात् मधुरभाषी है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि गुरु को कटुभाषी नहीं होना चाहिये। मृदुभाषी गुरु के कथन का शिष्य पर शीघ्र अनुकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। वे विधाता के पुत्र है (स्रष्टुः सूनुः)। पुत्र में पिता के गुण स्वभावतः आते ही है। विधाता का पुत्र एक नवीन संसार की रचना करने में समर्थ होता है। एक गुरु जो योग्य है (जो विधाता के पुत्र, वशिष्ठ जैसा विद्वान् है) वह सुयोग्य शिष्य रूपी नवीन संसार का विनिर्माण कर सकता है। वशिष्ठ निशावसान (ब्रह्ममुहूर्त) की बेला में विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इस वाक्य से यह शिक्षा मिलती है कि विद्यार्थी और गुरु को रात्रि के अवसान के समय अध्ययन करना चाहिये न कि शयन के समय, जैसा कि मनु और गौतम ने विधान किया है। गुरु को संयमी होना चाहिये, वशिष्ठ संयमी थे। उनकी इन्द्रियाँ उनके वश में थीं। वे आत्मनियन्त्रक थे। आज के गुरुओं के लिए यह बहुत बड़ी शिक्षा है।[15]

पर्यावरणीय शिक्षा की दृष्टि से वशिष्ठ का गुरुकुल अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस गुरुकुल के पवित्र परिसर की अनेक बातें ऐसी हैं यदि इनका पालन किया जाय तो पर्यावरणीय प्रदूषण काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है। वशिष्ठ का आश्रम मृगों से परिपूर्ण था और वे खाने के लिए नीवार धन्य को प्राप्त करते थे। इतना ही नहीं, ऋषि कन्यायें वृक्षों की जड़ों में पानी दे–देकर वहाँ से हट गयी थीं ताकि आश्रम के पक्षी निडर होकर उन वृक्षों के थाले का जल पी सकें। धूप में सुखाने के लिये जो तिन्नी का अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटिया के आँगन में ढेर बनाकर रख दिया गया था और वहाँ आँगन में बहुत से हिरण सुख से बैठे जुगाली कर रहे थे। हवन सामग्री की सुगन्ध से भरा हुआ अग्निहोत्र का जो धुआँ पवन के प्रवाह के कारण चारों ओर फैल चला था, उस धुयें ने आश्रम की ओर आये हुए उन अतिथियों को भी पवित्र कर दिया।[16] उक्त प्रकरण यह शिक्षा देता है कि वन्य पशुओं को स्वतन्त्रतापूर्वक जीने का तथा विचरण करने का अधिकार मिलना चाहिये। विद्यार्थी का दायित्व है कि पौधों का रोपण तो करे ही, साथ ही उसे जल से सींचता भी रहे ताकि वे विवर्धित होते रहें। पक्षियों के लिए जल की सुविधा बनी रहे, क्योंकि पक्षी के अभाव में स्वस्थ जीव–संसार की कल्पना व्यर्थ होगी। अग्निहोत्र से वातावरण में फैल रही गन्दगी नष्ट हो जाती है। वायु शुद्ध हो जाती है, जिससे पृथ्वी का वातावरण स्वस्थ रहता है। कुलपति वशिष्ठ के गुरुकुल से प्राप्त शिक्षायें आज भी उपयोगी हैं। यदि हम इन्हें व्यावहारिक स्तर पर अपनायें तो हमारी अनेक समस्यायें हल हो सकती हैं।

सन्दर्भ–

1. "And all by which the soul is charmed,
enraptured fested fad ?
Wouldst thou the earth and Heven itself,
on one sole name combine ? name the,
O Shankuntala and all at once is said."
जिसका संस्कृत अनुवाद वासुदेव विष्णु मिराशी ने इस प्रकार किया है –
वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यद्
यच्चान्य मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।

एकीभूतमभूत पूर्वमथवा स्वर्लोक भूर्लोकयो,
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम्।।
– कालिदास ग्रन्थावली,
चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी,
प्रशस्तिपद्य के अन्तर्गत संकलित।

2. पुराकविनां गणना प्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधीष्ठित कालिदासा।
अद्याऽपि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव।।
–परम्परागत।
3. उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु।।
–मालविकाग्निमित्रम् 2–9,
4. कल्याण, शिक्षांक (1988) पृ0–424
5. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश पृ0–909 (आप्टे)
6. रघुवंश 1–95,
7. सं0हि0शब्दकोश आप्टे पृ0–287,
8. रघुवंश 1–95,
9. रघुवंश 1–88,
10. रामचरितमानस–गोस्वामी तुलसीदास,
11. रघुवंश 1–81,
12. रघुवंश 1–87,
13. रघुवंश 1–92,
14. रघुवंश 1–93,
15. रघुवंश 1–95 पर मल्लिनाथ की टीका में द्रष्टव्य,
16. रघुवंश 1–50–53,

●●●●

*प्रवक्ता–बी0एड0 विभाग,
सन्त तुलसीदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कादीपुर,,
सुलतानपुर।
**प्रवक्ता–संस्कृत विभाग,
नन्दिनीनगर स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नबाबगंज, गोण्डा।

'परमिता' के सदस्य बनें

कृपया निम्नलिखित फार्म में मांगे गये विवरण भरकर इस पूरे पृष्ठ को काट लें और तत्पश्चात् इस फार्म को 'परमिता' के पक्ष में देय उपयुक्त एकाउंट पेई चेक / ड्राफ्ट / मनीआर्डर के साथ निम्नलिखित पते पर भिजवाने का कष्ट करें–

'परमिता' त्रैमासिक शोध-पत्रिका
N-1/61 R-1, शशिनगर कालोनी, सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ0प्र0) 221005
दूरभाष– 09838077923 • ईमेल : parmita.com@gmail.com

सदस्यता विवरण

• मैं निम्न प्रकार की सदस्यता ग्रहण करना चाहता हूँ:

निशान लगायें	सदस्यता का प्रकार	देय राशि
☐	संरक्षक सदस्य	10,000रु.
☐	आजीवन सदस्य (व्यक्तिगत)	1000रु.
☐	आजीवन सदस्य (संस्थागत)	2000रु.

• कृपया वाराणसी से बाहर के चेकों के लिए 30रु0 अतिरिक्त जोड़ें।

अन्य विवरण कृपया नीचे दिये गये फार्म में भरें

चेक / ड्राफ्ट का विवरण इस प्रकार है :
चेक / ड्राफ्ट नं0.....
तिथि .....राशि.....
बैंक .....
अन्य विवरण इस प्रकार है :
नाम :.....
व्यवसाय (आजीविका का साधन) :.....
पत्रिका मंगवाने का पता (पिनकोड सहित) :.....
.....
.....
ईमेल (अंग्रेजी के कैपिटल लेटर में) :.....दूरभाष :.....

शोध-14

संजीव की कहानियों में नारी चेतना : विशेष संदर्भ (दुनिया की सबसे हसीन औरत)

मनीष कुमार*

साहित्यकार जिस परिवेश में पलता–फूलता है, स्वाभाविक रूप से वह उस परिवेश को लेकर ही साहित्य सृजन करता है। संजीव बचपन से गाँवों से जुड़े हुए हैं। उन्होंने कारखाने में काम करते हुए निम्न वर्ग की जिंदगी जी है, भोगी है। पश्चिम बंगाल का मज़दूरों का संघर्षमय जीवन तथा झारखण्ड के आदिवासियों की जिंदगी को नज़दीक से देखा है तथा उनके सुख–दुःख में साथ रहे हैं। संजीव के कथा–साहित्य में दलित, आदिवासी, निम्नवर्गीय तथा उच्चवर्गीय समाज का सामाजिक यथार्थ चित्रित हैं।

संजीव का 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' नामक कहानी संग्रह सन् 1990 में यात्री प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस कहानी संग्रह में कुल ग्यारह कहानियाँ हैं। इन कहानियों में रचनात्मक और वास्तविक संतुलन का आभास मिलता है जो अदबदाकर खतरे की ओर ले जाता है। लगभग हर कहानी पाठक को उस बिंदु पर छोड़ती है जहाँ आदमी को खतरे का सामना करने के अलावा कोई वास्तविक विकल्प नहीं है। और यह सब जीवन–स्थितियों, विचारधारा और भाषा के लगभग ठीक–ठीक और जरूरी अनुपात से किया गया है।

आज के समय में जहाँ समीकरण बनाने में माहिर, ताकतवर और क्रूर लोगों की लीला सर्वव्यापी हो चुकी है, कानून, प्रशासन और नेतृत्ववर्ग जिनकी सेवा करने में अपनी भलाई मान चुका है, बईमानी, बेशर्मी और निहितार्थ को सांस्थानिक बनाया जा चुका है – वहाँ आदमी का साधारण ढ़ंग से जीना ही खतरनाक है। फिर इनके विरोध में उठाई गई एक मामूली आवाज़ भी बहुत खतरनाक मानी जाएगी। इस संग्रह की हर कहानी में वह आवाज़ है। बड़ी बात यह है कि यह आवाज जीवन की ठोस परिस्थितियों के भीतर से ही आई है। लगभग हर कहानी में यह आवाज वहीं से आती है जहाँ अंतिम रूप से यह निर्णय ले लिया गया है कि खतरे के सामने खड़े होने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। जिस समाज में अपराधी, मक्कार, कालाबाजारिए और हत्यारें रोज बचते और बचाए जाते हैं, इज्जत और रुतबा पाते हैं, वहाँ इनके विरोध में हल्की सी आवाज तभी उठ सकती है, जब निर्ममतापूर्वक कुचल दिए जाने के एहसास के बावजूद निर्णय ले लिया गया हो।

इस संग्रह की पहली कहानी 'घर चलो 'दुलारी बाई' में विधवा नारी 'दुलारी बाई' के रिश्तेदार, भ्रष्ट व्यवस्था तथा न्यायपालिका द्वारा होने वाले शोषण का अंकन हुआ है। संजीव ने इस कहानी में अकेली नारी की सामाजिक स्थिति तथा वैयक्तिक तथ्य को सामाजिक और मानवीय समस्या में उपस्थित किया है।

'नेता' कहानी में नेता मज़दूरों के हड़ताल को देखकर उनकी माँगे पूरी करने के लिए 'आत्मदाह की घोषणा करते हैं। वास्तव में आत्मदाह की कल्पना से डरते हैं। नेता जनता को खुश करने के लिए हर पल नाटक तथा झूठे वादे करते हैं। संजीव ने इस कहानी में स्वार्थी नेता की पोल खोली है।

'चुनौती' कहानी में कारखाने में काम करने वाले मज़दूरों का कारखाना मालिक के खिलाफ संघर्ष का अंकन हुआ है। मैनेजमेंट द्वारा कारखाना बंद करने पर मज़दूरों को काम से निकाला जाता है, बेकार शोषित मज़दूरों का जीवन अंधकारमय बन जाता है। संजीव ने इस कहानी के माध्यम से मज़दूरों को संगठित होकर संघर्ष करने की सलाह दी है।

'पिशाच' कहानी में पुराने जमाने के मगरुर सामंत और पुरोहित महातम बाबा के चरित्र को प्रस्तुत किया है। गाँव की बागडोर सम्हालने वाला बाबा, स्वयं को महातम बाबा मानते हैं। गाँव की स्त्रियों को अंधश्रद्धा तथा मंत्र–तंत्र की आड़ में लैंगिक शोषण करते हैं। गाँव की सत्ता उनके चेले शमशेर के हाथ में चली जाती है। जीते–जी बाबा ब्रह्मपिशाच बन जाते हैं। लेखक ने उन्हें पीपल के पेड़ के साथ जोड़कर देखा है। बाबा का पिशाच बनना फंतासी है। इस कहानी में संजीव ने वर्तमान में हो रहे बाबा या साधुओं के भेष में सेक्स रैकेट, अश्लील सीडी और अपहरण जैसे अपराधों को उजागर किया है। वर्तमान में दिल्ली के बाबा शिवमूरत द्विवेदी उर्फ इच्छाधारी संत स्वामी भीमानन्द, तमिलनाडु के स्वामी नित्यानन्द और गाजियाबाद के बाबा अनूप सहाय के दोहरे चरित्र इसके उदाहरण हैं।

इसी प्रकार की एक अन्य कहानी 'गो–लोक' है जिसमें सेठ घिनहूदास के माध्यम से पूँजीपतियों के शोषणतंत्र को उद्घाटित किया है। जिसमें सेठ गो सेवा करके, पुण्य कमाते हैं तो दूसरी ओर उनके कारखाने में पाँच सौ इक्यावन मज़दूर काम करते हैं, मगर एक भी परमानेंट नहीं है। सेठ उन्हें परमानेंट इसलिए नहीं करते ताकि वे नौकरी के डर से चूँ तक न करें। इसमें मज़दूरों के संघर्ष व सेठ के दोहरे चरित्र को दर्शाया है।

'दो बीघे जमीन' कहानी में भगत रिटायर होने पर उनकी दो बीघे ज़मीन हड़पने के लिए उनके रिश्तेदार तथा गाँव वालों की स्वार्थी मनोवृति का यथार्थ चित्रण किया है। 'बाठ' कहानी में अविवाहित रहने वाले तिरबेनी की सेक्स से पीड़ित मनोदशा का चित्र किया है। 'शिनाख्त' कहानी में हॉस्टल में रहने वाले विद्यार्थियों को पुलिस नक्सलाईट मानकर पकड़ लेती है। पुलिस के बर्ताव को इस कहानी में रेखांकित किया गया है।

'ऑपरेशन जोनाकी' कहानी में सत्ता के बल पर कुछ नेता कुछ भी करते हैं, नेता और गुंडों में कोई फर्क नहीं, इसी भ्रष्ट व्यवस्था को उजागर किया है। मजमदार

बाबू जो ईमानदार कांग्रेसी कार्यकर्ता का खून होता है उन खूनियों को पहचानने वाला अनिमेष बाबू के लड़के सौरभ का किडनैप किया जाता है। अनिमेष बाबू ईमानदार पुलिस अफसर भ्रष्ट व्यवस्था में अपने किडनैप बेटे को ढूँढ नहीं पाते। सत्ता और धन के बल पर महाजन, जोतदार और अफसर आदिवासियों की ज़मीन हड़प लेते हैं। इस कहानी के माध्यम से संजीव ने यह बताने का प्रयास किया है कि भ्रष्ट नेता, व्यवस्था पर जनता ही अंकुश रख सकती है, इसके लिए जनता को एकजुट होना जरुरी है।

प्रेमचन्द ने 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' खून के उस आखिरी कतरे को माना था, जो देश की हिफाजत के लिए गिरता है। संजीव के लिए प्रतिरोध और संघर्ष करने वाली औरत ही 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' है। इस तरह वैचारिक स्तर पर संजीव की यह कहानी प्रेमचन्द की कहानी की अगली कड़ी है। इस कहानी में औराँव जाति की आदिवासी औरत रेल टिकट निकालकर सब्जी लेकर रेल से सफर करती है। रेल में टी0टी0 साहिबा दस रुपये मूली के माँगती है। औरत 'दया करो' कहने पर भी नहीं मानती है। दूसरी ओर रेल के दो पुलिस वाले सब्जी में से मूलिया निकाल लेते हैं। महिला टी0टी0 और बिना टिकट की दो युवतियों का वर्ग एक है और आदिवासी युवती का वर्ग दूसरा है। 'शरीफजादियाँ' टी0टी0 को पाँच–पाँच का नोट देकर अपना काम निकालती हैं। आदिवासी युवती द्वारा 'शरीफजादियों' को 'बहिन' कहना उन्हें बुरा लगता है – ''बहिनी–बहिनी मत बोलो। जंगली कहीं की। हम तेरी तरह बाजारु नहीं हैं।'' इस बात पर शरीफजादियाँ आदिवासी युवती को अपमानित करती हैं। सभी ओर नफरत, तिरस्कार और शोषण से तंग आकर औरत रोने लगती है। तब कथावाचक इस कहानी में आदिवासी युवती के पक्ष में खड़ा होता है और एक साथ शरीफजादियों, महिला टी0टी0 और पुलिस जवान से भिड़ जाता है। कथावाचक आदिवासी औरत के चेहरे पर तीन गोदनें हैं और इन गोदनों का संबंध परंपरा और इतिहास से बताता है– मुगलों ने ओराँव जनजाति पर जब हमला किया था मर्द सरहुल पर्व के नशे में थे और रानी सिनगी दाई और सेनापति की बेटी कैली दई इस हमले का मुकाबला करने को तैयार हुईं। औरतों ने मर्द की पौशाक पहनकर मोर्चा संभाला था और तीनों हमलों में मुगलों को पराजित किया था। गद्दार सुंदरी के कारण उनका भेद खुला और मुगलों ने चौथी बार हमला किया। रानी को किला छोड़ना पड़ा और कई बहादुर औरतें लड़ती हुई पकड़ी गई। तीन हारों का बदला उन्हें तीन बार दाग कर दिया गया और औराँव औरतों ने उन दागों को कलंक न मानकर शृंगार के रूप में ग्रहण किया। संजीव के यहाँ जुल्म और अन्याय के खिलाफ लड़ना सबसे बड़ी बहादुरी है। फल चाहे जो निकले जीत या हार। ''जुल्म की खिलाफत ही बहादुरी है और जरुरी नहीं कि बहादुरी महज जीत का ही बाइस बने, उसकी हार भी सिंगार है।''

प्रेमचन्द ने अपने समय में जिस प्रकार 'रत्न' का अर्थ बदल दिया था, उसी प्रकार संजीव ने इस कहानी में सौंदर्य का अर्थ बदल डाला है। आदिवासी युवती के तीन गोदने वर्तमान में यह संघर्ष के लिए है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कहानीकार संजीव की कहानियाँ समकालीन दौर के अधिकांश ज्वलंत सवालों तथा व्यापक जनता की समस्याओं और चिताओं को विमर्शकारी तरीके से सामने लाती हैं। पाठकों के भीतर वैज्ञानिक दृष्टि और प्रखर जनतांत्रिक बोध उत्पन्न करने की दृष्टि से तो इनकी उपादेयता है ही, ये समाजशास्त्रीय विमर्श की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं।

इस कहानी संग्रह में कुछ कहानियों में कारखानों तथा कोयला खदानों के मज़दूरों का यथार्थ जीवन दर्शाया गया है साथ ही 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' कहानी द्वारा नारी सौंदर्य की रुढ़िवादी परिभाषा बदलने की कोशिश की गयी है। संजीव ने नारी के रूप–रंग, नैन–नक्श, उम्र को सौंदर्य न मानकर जुल्म और अन्याय के खिलाफ लड़ने वाली तथा अपने कर्म करने वाली औरत को सबसे बड़ी बहादुर तथा सौंदर्यवान् माना है।

सन्दर्भ–

1. सामाजिक यथार्थ और कथाकार संजीव – डॉ0 शहाजहान मणेर
2. कथाकार संजीव – सं0 गिरीश काशिर
3. 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' कहानी संग्रह – संजीव
4. 'पाखी' पत्रिका विशेषांक – संजीव केन्द्रित सितम्बर 2009

●●●●

शोध छात्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

शोध-15

वैदिक वाङ्मय में वाणी का स्वरूप

डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय 'साहित्येन्दु'*
सन्तोष कुमार पाठक**

वेद आध्यात्मिक या धार्मिक ज्ञान का अगाध भण्डार है। उसे सभी धर्मों का मूल माना जाता है।[1] वेद भारतीयता की पहचान है। वैदिक ज्ञान–राशि काल तथा भौगोलिक सीमा से परे सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक है। वाणी का आशय भाषण, बोलने की शक्ति तथा विद्या की सरस्वती देवी आदि हैं। वाणी के लिए वाच् तथा वाक् शब्दों का प्रयोग होता है। वाणी मनुष्य के जीवन व्यापार का अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है। मनुष्य को उसकी वाणी सुप्रयुक्त होने पर उत्थान की तरफ ले जाती है तथा अनुचित प्रयुक्त होने पर उसे विनाश के गर्त में ढकेल देती है। वाणी की आराधना साहित्यकार करते हैं ताकि उनकी वाणी और लेखनी उत्तम, उदात्त तथा लोकोपकारी हो। कविकुलगुरु कालिदास रघुवंश के प्रारम्भ में ही वाणी तथा अर्थ की प्राप्ति के लिए पार्वती तथा परमेश्वर की वन्दना करते हैं।[2]

ऋग्वेद का विचार है कि वाणी का प्रयोग बहुत समझ–बूझकर करना चाहिये। मेधावी को बोलने के पूर्व अपनी वाणी को बुद्धि–बल से परिष्कृत कर लेना चाहिये। जैसे सूप पर सत्तू को रखकर फटककर लोग सत्तू की गन्दगी को दूर कर लेते हैं, वैसे ही विवेकी, वाणी उच्चारण के पूर्व उसको बुद्धि के निकष पर कस लेते हैं। विद्वानों की वाणी (परिष्कृत, परिमार्जित एवं विवेकसम्मत होने के कारण) उनके अभ्युदय का कारण होती है। विद्वानों की वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी का निवास होता है।[3] विवेकसम्मत संक्षिप्त तथा सार्थक वचन ही वाक्पटुता है।[4] वाकपटुता विद्वान् का अति महत्वपूर्ण गुण होता है।

वाणी का रहस्य सब नहीं समझ पाते। सरस्वती सब पर कृपालु नहीं होतीं। जो वाणी की मनसा–वाचा–कर्मणा आराधना कराता है वे उसी पर प्रसन्न होती हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि जब भक्त शारदा का स्मरण करता है तब वे विधाता–भवन से अपने भक्त के पास दौड़ती हुई चली आती हैं।[5] वाणी का यथार्थ स्वरूप समझ पाना सबके वश की बात नहीं है। कुछ मूर्ख ऐसे भी होते हैं जो वाणी को देखकर भी देख नहीं पाते, सुनकर भी सुन नहीं पाते। जो विवेकी हैं और वाणी की कृपा जिन्हें प्राप्त है वे ही वाणी का यथार्थ स्वरूप देख सकते हैं और वाणी को सुनने, समझने, उसके निहितार्थ का अर्थ लगाने की क्षमता रखते हैं। वाणी इतनी उदार तथा सदाशयी होती है कि वह विद्वानों के समक्ष सारस्वत तपस्वियों के समक्ष स्वयं को उसी प्रकार प्रकाशित कर देती है जैसे सुन्दर वस्त्रों से आच्छादित पत्नी, पति के समक्ष स्वयं को अनावृत कर देती है।[6] ऋग्वेद के वाक्सूत्र में वाणी की दार्शनिक व्याख्या देखने को मिलती है। इस सूक्त में विदुषी वाक् आत्मस्तवन करते हुए स्वयं का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करती हुई स्वयं को सर्वत्र विश्व के अणु–परमाणु में देखती है। वस्तुतः वाक् की महिमा से ही विश्व के समस्त व्यापार संचालित होते हैं। वाक् देवी ब्रह्म की उर्वराशक्ति हैं। वह ही देवताओं की प्रेरिका हैं। रुद्रों, वसुओं तथा आदित्यों में जो गतिमयता है उसका कारण वाक् ही है।[7] वाक् देवी जिस पर प्रसन्न हो जाती हैं उसे वीर, स्तोता तथा मेधावी बना देती हैं।[8] वाक् ब्रह्मद्वेषियों को मारने के लिये रुद्र का धनुष तानती हैं। द्युलोक, पृथ्वीलोक में ही नहीं, प्रत्युत् वाक् सर्वत्र अधिष्ठित हैं। निघण्टु में वाक् अन्तरिक्ष स्थानीय देवता मानी गयी है।[10] शतपथ ब्राह्मण[11] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[12] में वाक् को सरस्वती स्वरूप कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में वाणी के चार स्वरूपों का उल्लेख आया है। यथा मनुष्यों की वाणी, पशुओं की वाणी, पक्षियों की वाणी तथा क्षुद्र सरीसृपों की वाणी।[13] वाणी के परिमाण का मापन सम्भव नहीं है। उसकी सीमा मानव–चिन्तन की परिधि से भी परे है। यही कारण है कि यजुर्वेद कहता है कि वाणी का परिमाण नहीं है।[14] वाणी की आराधना से वाणी की शिष्टता, शुद्धता तथा सार्थकता से परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है। इसी कारण सामवेद का विचार है कि 'हे परमेश्वर ! मैं वाणी द्वारा तेरी प्राप्ति की इच्छा करता हूँ।[15]' वाणी का प्रयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिये। अनुचित वाणी के उच्चारण से अनिष्ट की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि सामवेद का ऋषि प्रार्थना करता है कि हे देवों ! मैं तुम्हारे द्वारा न सुने जाने योग्य वचन न बोलूँ।[16] मधुर वाणी वातावरण को सरस बना देती है और कटुवाणी वातावरण को कड़ुवा बना देती है। जो कार्य मधुर वचन से हो सकता है वह कठोर कथन से कथमपि नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी मानते हैं कि मीठे वचन से चतुर्दिक सुख की उद्भूति होती है। श्रोता को अपने वश में करने का वशीकरण मन्त्र है– कठोर वचन का परित्याग।[17] अथर्ववेद का ऋषि कामना करता है कि 'मेरी जीभ के अग्रभाग में मधुरता रहे। मेरी जीभ के मूलभाग में मधुरता रहे।[18]' वही वाणी प्रशस्त होती है जिसमें सौहार्दता हो, वही वाणी अच्छी है जिसमें समान संकल्प व्यक्त होता हो और वही वाणी उत्तम और उदात्त है जिसमें भद्रता का समावेश हो। अथर्ववेद का स्पष्ट विचार है कि 'सौहार्द वाले, समान व्रत वाले होकर भद्र भाव से वचन बोलो।[19]' शतपथ ब्राह्मण वाणी को जगदम्बिका मानता है। वह कहता है कि वाणी से ही यह सब उत्पन्न होता है।[20] शतपथ ब्राह्मण यहाँ तक कहता है कि वाणी ही ब्रह्म है।[21] वस्तुतः शतपथ ब्राह्मण के मत में वाणी में माया तथा ब्रह्म, प्रकृति तथा पुरुष दोनों की शक्तियाँ सन्निहित हैं। शतपथ ब्राह्मण की दृष्टि में वाणी जगत का मूल है। वाणी विवेकदायिनी होती है। वाक् के अभाव में धर्म–अधर्म का संज्ञान असम्भव है। सत्य तो यह है कि वाणी के बिना सत्यासत्य का विवेक, साधुता तथा असाधुता में पार्थक्य, मनोज्ञता तथा अमनोज्ञता में विभेद का ज्ञान सम्भव नहीं है। वाणी इन सबका परिज्ञान कराती है।[22] वृहदारण्यकोपनिषद

तो यहाँ तक उद्घोष करता है कि सब वेदों का वाणी ही एकमात्र धर्म है।[23]

आर्ष महाकाव्य महाभारत ज्ञान–विज्ञान का अपूर्व भण्डार है। इसे पञ्चम वेद का सम्मान प्राप्त है तथा अनेक वैदिक तत्वों का उपबृंहण इस महाग्रन्थ में मिलता है। महाभारत के अनेक प्रकरणों में 'वाणी विषयक' अनेक तथ्यों का समाहार है। पूर्व में सामवेद के प्रकरण में कहा गया है कि ऋषि की कामना है कि हे परमेश्वर ! मेरे मुख से ऐसा कोई वचन न निकले जो आप द्वारा श्रवणीय न हो। अथर्ववेद का मन्त्रद्रष्टा ऋषि स्पष्ट कहता है कि 'मेरे जिह्वा के अग्रभाग तथा मूलभाग (दोनों) में मधुरता बनी रहे।' इन कथनों की मीमांसा करने पर अनेक तत्व विचार सरणि में आते हैं यथा– ऐसी वाणी नहीं बोलना चाहिये जो कटु, उद्वेगकर तथा असत्य हो। भगवान वेदव्यास का विचार है कि 'अमधुर शब्दों में कही गयी बात महान अनर्थ का कारण बन जाती हैं।'[24] वेदव्यास कटु वाणी को अत्यन्त घातक मानते हैं। वे कहते हैं कि कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणों को शरीर से निकाल सकते हैं, परन्तु कटु वचन रूपी बाण नहीं निकाला जा सकता है क्योंकि वह हृदय के भीतर धँस जाता है।[25] धँसा हुआ काँटा कितना कष्टप्रद होता है यह वही जानता है जिसके पैर में काँटा गहरे तक चुभ गया हो। भगवान वेदव्यास की त्रिकाल सत्य वाणी कितनी अर्थवान है? कितनी सत्यासत्य तथा नीर–क्षीर–विवेचिनी है? कौन पूर्णरूपेण कह सकता है? सत्य है कि भयङ्कर तीरों से लगे घाव देर–सबेर भर जाते हैं परन्तु कटु, कर्कश एवं तिरस्कारपूर्ण वाणी से लगी हृदय की चोट कभी भरती ही नहीं, पूजती ही नहीं, सदैव अपने अपमान का प्रतिशोध करने के लिए प्रेरित करती रहती है। वेदव्यास ने वाणी की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है जो सचमुच अतिमहत्वपूर्ण चिन्तन है। वे कहते हैं कि वाणी की प्रथम विशेषता है मौन। क्योंकि व्यर्थ बोलने से अच्छा है कि मौन रहा जाय। सत्य भाषण वाणी की द्वितीय विशेषता है। वाणी की तीसरी विशेषता है प्रिय बोलना। धर्ममय सम्भाषण वाणी की चतुर्थ विशेषता है।[26] भगवान पतञ्जलि महाभाष्य में ब्राह्मणों से (विद्वानों से) कहते हैं कि ब्राह्मण को म्लेच्छित अर्थात दोषयुक्त नहीं बोलना चाहिये। जो अपशब्द है, वह निश्चय ही म्लेच्छ है।[27] उक्त विवेचन के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक वाङ्मय में वाणी सर्वेश्वरी रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा मानव के विवेक की सुसञ्चालिका के रूप में उपनिबद्ध हैं। मानव से अपेक्षा की गयी है कि वह सत्य बोले, प्रिय बोले तथा वाणी का कभी दुरुपयोग न करे।

सन्दर्भ–

1. वेदोऽखिलोधर्ममूलम् –मनुस्मृति 2–6,
2. वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
   जगतःपितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।। –रघुवंश 1–1,
3. सक्तुमिव तिउना पुनन्तो
   यत्र धीरा मनसा वाचक्रमत।
   अत्रा सखयः सख्यानि जानते
   भद्रैषं लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।। –ऋग्वेद 10–71–2
4. मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता –नैषधीयचरितम् 9–8
5. भगत हेतु बिधि भवन बिहाई।
   सुमिरत सारद धावत आई।। –रामचरितमानस बालकाण्ड
6. उत तत्वः पश्यन् न ददर्श वाच–
   मुत त्वः श्रण्वन् न श्रृणोत्येनम्।
   उतो त्वस्मै तन्वं विसस्र
   जायेव पत्य उशती सुवासाः।। –ऋग्वेद 10–71–4
7. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराभ्यु –
   हमादित्यैरुत विश्वदेवै। –ऋग्वेद 10–71–4,
8. यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि
   तं ब्राह्मणं तमृषिं तं सुमेधाम्। –ऋग्वेद 10–125–5
9. अहं रुद्राय धनुरातनोमि
   ब्रह्मद्विषे शखे हन्तवा उ।
   अहं जनाय समदं कणेम्य–
   हं द्यावा पृथिवी आ विवेश।। –ऋग्वेद 10–125–6
10. निघण्टु 5–5
11. शतपथब्राह्मण 3–9–1–7
12. ऐतरेय ब्राह्मण 3–1–10
13. श0ब्रा0 4–1–3–96
14. गोस्तु मात्रा न विद्यते –यजुर्वेद 23–48
15. अग्ने त्वां कामये गिरा –सामवेद – 8
16. मावो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचम् –सामवेद 610
17. तुलसी मीठे बचन से सुख उपजत चहुँ ओर।
   वसीकरण इक मन्त्र है तज दे बचन कठोर।। –दोहावली
18. जिह्वायाः अग्रे मधु में जिह्वा मूले मधूत्यकम्। –अथर्ववेद 1–34–2
19. सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं तदतभद्रया। –अथर्ववेद 3–30–3
20. वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति –श0ब्रा0 1–3–2–16
21. वाग्वै ब्रह्म –श0ब्रा0 2–1–4–16
22. वाग्वाव नाम्नो भूयसा–यद वै वाङ्नीविष्यन्न
   धर्मो नाधर्मो व्यज्ञा पयिष्यन्न सतयं नानृतं न साधु
   नासाधु न हृदयज्ञो ना हृदयाज्ञो वार्यवैतत् सर्वं विज्ञापयति।
   –छान्दोग्योपनिषद–7–2–1
23. सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् –वृहदारण्यकोपनिषद् 2–4–11
24. अभ्यावहति कल्याणं विवधंवाक् सुभाषिता।
   सैव दुर्भाषिता राजन्नर्थयोपपद्यते।। –उद्योग पर्व 34–77,
25. कर्णिनालीक नाराचन्निर्हरन्ति शरीरतः।
   वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः।। –उद्योग पर्व 34–79,
26. अव्याहृताच्छ्रेय आहुः
   सत्यं वदेद व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
   प्रियं वदेद व्याहृतं तत तृतीयं
   धर्मं वदेद व्याहृतं तच्चतुर्थम्।। –उ0प0 36–12
27. तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित वै नापभाषितवै
   म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। –महाभाष्य प्रथम आह्निक

●●●●

*रीडर/अध्यक्ष–संस्कृत विभाग,
सन्त तुलसीदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कादीपुर, सुलतानपुर।

**शोधार्थी– संस्कृत विभाग,
सन्त तुलसीदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कादीपुर, सुलतानपुर।

शोध-16

मेवाड़ के महाराजा उदय सिंह एवं अकबर : एक ऐतिहासिक अध्ययन

राजेश कुमार*

वीर वीरांगनाओं की यशस्वी गाथाओं में राजस्थान का इतिहास भरा है। इसमें भी भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना के प्रयत्न का जो प्रतिरोध इस भू–भाग ने प्रदान किया वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है, और इसमें शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है, मेवाड़ के विरुद्ध युद्ध को, जिसका संचालन इस राज्य के तीन महाराणाओं के नेतृत्व में हुआ था। सर्वग्राही तथा सर्वतोन्मुखी संघर्ष सर्वजातीय तथा सर्ववर्गीय था, और अपने सम्पूर्ण शरीर के कारण सदा वहाँ स्मरण किया जाता है जहाँ स्वाधीनता पर आँच आयी और इसका प्रतिरोध करना आवश्यक हो जाता है; अकबर के विरुद्ध मेवाड़ का युद्ध सारे संसार के स्वतंत्रता प्रेमियों के लिए प्रेरणास्पद है, इसका महत्व इसी से सिद्ध है कि इस युद्ध का उदाहरण देकर शत्रु भी अपने उत्साह की अभिवृद्धि किया करते थे, और इसमें हुई असफलताएँ भी गौरव तथा प्रेरणा का कारण हो गई है।

मेवाड़ के राजसिंहासन पर 1540 ई0 को फिर से महाराणा संग्रामसिंह का एक पुत्र आसीन हुआ।[1] इसी वर्ष उदयसिंह के सबसे पहले पुत्र प्रताप का जन्म भी हुआ। इस प्रकार यह वर्ष उदयसिंह के लिए अतिशय शुभ सिद्ध हुआ। सारे देश की दृष्टि से भी यह वर्ष बड़ा निर्णायक रहा। बिलग्राम का ऐतिहासिक युद्ध 17 मई 1540 को हुआ, जिसमें मुगल सम्राट हुमायूँ शेरशाह सूरी के सैनिकों के सामने नहीं टिक सके, और एक बार तो मुगल शासन भारत से उठ गया, हुमायूँ भागकर ही अपनी जान बचा सका।[2]

स्वयं मेवाड़ की परिस्थिति इस समय अच्छी नहीं थी। खानवा की पराजय के समय से ही सैनिक और आर्थिक शक्ति गिरती जा रही थी। चित्तौड़ का मूर्धन्य दुर्ग क्षत–विक्षत हो गया था। मेवाड़ के सामंतों में भी असंतोष फैला हुआ था। उदयसिंह को जो मेवाड़ मिला वह एकदम जर्जर था।[3]

इस तरह महाराणा संग्रामसिंह का पुत्र होने पर भी उदयसिंह को उसकी यशस्वी पैतृकता का कोई लाभ नहीं मिला। संग्रामसिंह के बाद एक–एक करके रत्नसिंह विक्रमादित्य तथा बनवीर ऐसे शासक मेवाड़ की गद्दी पर आये जो उस पतनावस्था से मेवाड़ को उबार नहीं सके। चित्तौड़ में उदयसिंह के आगमन के साथ से मेवाड़ में नये सबेरे के उदय के समान सिद्ध हुआ।

उदयसिंह की सैन्य नीति : उदयसिंह के सिंहासनारोहण के समय मेवाड़ की सेना की दशा बहुत ही शोचनीय थी। राजनीतिक अराजकता सब ओर फैली हुई थी। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों को मेवाड़ की सेना में भर्ती किया। सैनिकों में परस्पर सम्मान और सहिष्णुता जागृत की। पुराने किलों की मरम्मत की गयी, नये किले का निर्माण किया गया, सभी किलों को अपनी रक्षा योग्य शक्ति और सामग्री से सम्पन्न किया गया। युद्ध में काम आने वाले पशुओं को भी प्रशिक्षित किया गया, जिनमें हाथी प्रमुख थे। सारे प्रशिक्षण में राजपूत परम्परा के साथ–साथ आधुनिक ज्ञान–विज्ञान का समावेश करने का भी प्रयत्न किया गया।[4]

अमरसिंह के समय में मेवाड़ की सेना में 16,000 सवार और 40,000 पैदल थे। सैन्य संगठन के साथ–साथ उदयसिंह ने मेवाड़ की सीमाओं की ओर ध्यान दिया। इस तरह उदयसिंह ने मुगल दरबार से भागे हुए लोगों को सिर्फ शरण ही नहीं दी, बल्कि उनकी शत्रुता को स्वस्थ साधनों द्वारा मेवाड़ की सामरिक स्थिति को दृढ़ करने में लगा दिया। बिहार के कुछ मुसलमान भी इस समय मेवाड़ में आ गये। वे बहुत अच्छे बन्दूकची एवं गोलबाज थे। ये सब मेवाड़ की सेना में भर्ती कर लिये गये। इस प्रकार मेवाड़ मुगल लोगों के विरुद्ध कार्यवाई का एक महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।[5]

यह वह समय था जब अकबर हिन्दुओं के साथ मैत्री के द्वार पूरी तरह खोल चुका था। चाहे इसके प्रत्युत्तर में पूरी तरह सोच–समझकर उदयसिंह ने नीति न अपनायी हो। उदयसिंह जानता था कि उसके समय में राजनीति का गुरुत्वाकर्षण बिन्दु सामाजिक एवं धार्मिक केन्द्र से हटकर राजनीतिक एवं आर्थिक कारण जन्य मुगल–सीसोदिया विरोध का सफल मुकाबला नहीं कर सकती थी। अकबर की सेना में बहुत से हिन्दू, हिन्दू जाति के स्वार्थों के विरुद्ध अकबर की सहायता कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में उसने राष्ट्रीय मुसलमानों का साथ देकर बुद्धिमानी का ही परिचय दिया। उदयसिंह की सारी आत्मशक्ति मेवाड़ को शक्तिशाली बनाने में जागृत हो गयी थी। उदयसिंह का मस्तिष्क तो एक उच्च स्तर पर काम कर रहा था। इसलिए छोटी–छोटी बातों पर ध्यान देने के लिए न तो अवसर था न यह उचित ही था। लेकिन मेवाड़ के कल्याण का सही मार्ग हिन्दू–मुसलमान राष्ट्रवादी मैत्री में ही है, यह सत्य वह अच्छी तरह समझता था।[6]

इस पृष्ठभूमि में हम उन कारणों की ओर दृष्टिपात करेंगे जिनको लेकर मुगल–मेवाड़ वैमनस्य का पुनः सूत्रपात हुआ। अबुल फजल[7] लिखता है कि अकबर राणा को उद्धत एवं सुदृढ़ किलों के अधिकार के घमंड को दण्डित करना था। निजामुद्दीन[8] और बदायूँनी[9] के अनुसार आक्रमण का कारण 1562 ई0 में मालवा के बाजबहादुर को राणा द्वारा प्रश्रय देना था। स्मिथ[10] अकबर की सम्पूर्ण हिन्दुस्तान पर अधिकार करने की अभिलाषा थी जो राजनीतिक औचित्य तथा आर्थिक आवश्यकता से प्रेरित थी, आक्रमण का कारण बताया है।

उदयसिंह की सूझ–बूझ और कोशिषों से मेवाड़ में वास्तव में नये युग का उदय हुआ। मेवाड़ में सारे राजस्थान

की आस्था फिर से जागी। सारा देश उसकी ओर देखने लगा। यह यूँ ही नहीं हो गया था कि अकबर के डर से भागे लोग मेवाड़ में शरण लेने लगे, और अकबर पूरी कोशिष के बाद भी मेवाड़ को परास्त नहीं कर सका और उसे अपने साम्राज्य का अंग नहीं बना सका। मेवाड़ को बलिदान बहुत करना पड़ा, परन्तु यदि संग्रामसिंह के अंतिम दिनों से शुरु हुआ गिरावट का सिलसिला रोकने में उदयसिंह सफल नहीं होता तो अकबर की महत्वाकांक्षा मेवाड़ के पर्वतों और जंगलों में लुप्त नहीं की जा सकती थी।[11]

"समस्त राजपूत राजाओं में मेवाड़ का राणा सबसे शक्तिशाली और सबसे अधिक ख्याति प्राप्त था। उसका कुल यह अभिमान करता था कि उसने कभी मुसलमानों के सम्बंध स्थापित करके अपने रक्त को अपवित्र नहीं किया है, उलटे उनके प्रति सदा उत्तेजक विरोध बनाये रखा है, और उनसे कई बार रक्त–रंजित युद्ध किया है।"[12]

अकबर का आक्रमण सन्निकट जानकर उदयसिंह ने इस समिति[13] को आमंत्रित किया। राणा उदयसिंह में अपने सुप्रसिद्ध वीर पिता राणा सांगा जैसा न तो साहस था और न वैसी युद्ध कुशलता ही। अतएव चित्तौड़ पर अकबर की चढ़ाई की सूचना मिलने पर उसके सरदारों तथा सेनानायकों की सलाह मानकर इस बार भी वे सकुटुम्ब चित्तौड़ का किला छोड़कर चल दिया। मेवाड़ के राजपूत अपने शौर्य और सामरिक प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध थे। भाग्य वास्तव में (उनके प्रति) अनुदार था जबकि उनकी स्वतंत्रता पर आये सबसे कठिन संकट के समय राज्याद्रोही राणा उदयसिंह, ऐसा आदमी निकला जो मुगल सेना तथा अकबर के सेनापतित्व का सामना करने में सर्वथा क्षमताहीन ही नहीं था, अपितु ऐसा कायर भी था कि उसे राजपूत कहना ही उचित नहीं लगता। श्रेष्ठ पिता के अयोग्य पुत्र राणा उदयसिंह की दुर्बलता ने मुगल (सम्राट) की महत्वाकांक्षी योजना को सुगम कर दिया। परन्तु उदयसिंह ने बाहर जाकर जो कुछ किया, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि राणा सांगा के पुत्र ने रण से भागकर अपने पिता के नाम को कलंकित किया।[14] परन्तु उदयसिंह द्वारा चित्तौड़ छोड़ने की नीति को लेकर स्मिथ[15], टाड[16], कविराज श्यामल दास[17], ओझा[18], एस0 आर0 शर्मा[19], आदि आधुनिक इतिहासकारों ने उसकी निंदा की है और उसको कायर, शौर्यहीन तथा देशद्रोही ठहराया है। समसामयिक मुस्लिम इतिहासकार उसके सम्बंध में इस प्रकार का दोषारोपण नहीं करता। यदि हम वनवीर, हाजी खाँ तथा राठौड़ों के साथ लड़े गये उसके युद्धों पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि उसमें एक अच्छे सैनिक के गुण थे।

यह सही है कि उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़ा था, परन्तु यह स्थिति उसके सामने पहली बार नहीं आयी थी। उसके भाई विक्रमादित्य के समय में जब चित्तौड़ पर हमले हुए थे, इसी प्रकार महाराणा को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया गया था।[20] महाराणा की कूटनीति का परिचय उनके चित्तौड़ परित्याग कर जंगल में सामरिक केन्द्र बनाने की नीति से मिल जाता है। यह नया सामरिक बिन्दु मुगल सेना की जानकारी में नहीं आया और वे इस गुप्त स्थान का पता भी नहीं लगा सके। महाराणा इस पर्वतीय केन्द्र से युद्ध संचालन सफलतापूर्वक करता रहा, जहाँ वह सब प्रकार से सुरक्षित था।[21]

गोपीनाथ शर्मा ने भी लिखा है, "राणा द्वारा चित्तौड़ छोड़ने की घटना को लगभग सभी हमारे समय के लेखकों ने राणा की कायरता बतायी है। कर्नल टाड ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि सांगा और प्रताप के बीच में उदयसिंह न होता तो मेवाड़ के इतिहास के पन्ने अधिक उज्ज्वल होते। परन्तु इस प्रकार की धारणा का कोई आधार नहीं हैं, जबकि हम मानते हैं कि किसी समसामयिक मुस्लिम इतिहासकार ने भी राणा के इस कर्त्तव्य की आलोचना नहीं की है।[22]

अकबर के आक्रमण का हर तरह सामना करने की दृष्टि से चित्तौड़ में युद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में संकलित की गयी थी। इसमें बड़ी विविधता थी, और चित्तौड़ की सुरक्षा की विशेष विधि का बहुत ध्यान रखा गया था। सैनिकों और नागरिकों के लिए दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तथा खाने–पीने का सामान भी पर्याप्त मात्रा में एकत्रित किया गया था। इनमें नमक का विशाल भंडार भी था।[23]

23 अक्टूबर 1567ई0 को अकबर एक बड़ी सेना लेकर ऐतिहासिक दुर्ग चित्तौड़ को घेरा डालने के लिए आ धमका।[24] 'तारीख–ए–अल्फी' के अनुसार 'अकबर जब वह चित्तौड़ के समीप पहुँचा तो भीषण वर्षा के कारण उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा।'[25] अकबर ने पहली बार चित्तौड़ पर जब नजर डाली, वर्षा और बिजली की चका–चौंध के मारे कुछ न सूझा।

इधर मोर्चा–बंदी हो रही थी उधर अकबर ने दो तरफ और अपनी सेना रवाना की। उसे आदेश दिये गये कि हर तरफ लूटमार की जाये, और प्रदेश की पूरी बरबादी की जाये। एक सेना आसफ खान के नेतृत्व में रामपुर भेजी गयी। सारा प्रदेश बुरी तरह लूटा गया, और तहस–नहस कर दिया गया। रामपुर पर मुगल कब्जा होने के बाद वहाँ शाही प्रबंधक रखे गये, और आसफ खान चित्तौड़ लौट आया।[26]

इन परिस्थितियों में तत्कालीन विज्ञान और विकसित रणनीति के अनुसार साबात और सुरंग का सहारा लेने का निश्चय किया। साबात जमीन के ऊपर बनाये जाते थे, और सुरंग जमीन के नीचे। इसमें बारुद भरी जाती थी। साबात बहुत लंबे बनाने पड़ते थे ताकि किले के भीतर से की जाने वाली मार से कारीगर और मजदूर (जिन्हें साबात और सुरंग बनाने के लिए आगे जाना पड़ता था) बच सकें। कारीगरों और मजदूरों की रक्षा के लिए सैनिक तैनात किये जाते थे।[27] "तारीख–ए–अल्फी" में बताया गया है कि साबात बनाने के लिए 5,000 कारीगर, खाती, संगतराश, लोहार और जमीन खोदने वाले, जहाँ मिले वहाँ से लाकर, एकत्रित किये गये। साबात हिन्दुस्तान के किलों पर कब्जों के लिए खासतौर पर बनाने पड़े थे, चूँकि इस देश के दुर्गों पर तोपें, बंदूकें और अन्य आक्रमणकारी सामान चारों ओर

छाया रहता था, और इन्हें सिवाय साबात के जीता नहीं जा सकता था।[28]

चित्तौड़ पर कब्जे के लिए दो साबात बनवाये गये थे। शाही मोर्चा के सामने बनाया गया साबात इतना चौड़ा था कि उसमें होकर दो हाथी और दो घोड़े अगल–बगल चल कर भी आसानी से निकल सकते थे और इतना ऊँचा था कि हाथी पर चढ़ा सैनिक अपना भाला घुमाता निकल सकता था।[29]

चित्तौड़ के लोगों ने साबात कभी नहीं देखा था, और इसे देखकर वे चकरा गये; फिर भी उन्होंने इन पर होने वाले काम को रोकने की पूरी कोशिश की। यद्यपि कारीगरों को बचाने के लिए काफी प्रयत्न किया जाता था लेकिन इसके बावजूद ऐसा कोई दिन नहीं जाता था जब कि 100–125 लोग जान नहीं गंवाते थे। इनमें मरने वालों की लाशों को ईंटो–पत्थरों की जगह काम में ले लिया जाता था।[30] इसलिए या तो लोग मजदूरी पर आते नहीं थे, या मजदूरी बहुत ज्यादा मांगते थे। थोड़े ही दिन में एक साबात बनकर दीवाल तक पहुँच गया।

चित्तौड़ में अंततः अकबर ने प्रवेश किया। अकबर हाथी पर सवार था उसने चित्तौड़ पहुँचने पर चित्तौड़ के लोगों को सजा देने के लिए कत्लेआम का आदेश दिया जिसमें 10,000 राजपूत काम आ गये। शत्रु के बचे हुए बच्चों और स्त्रियों को बंदी बना लिया गया। उनकी सारी सम्पत्ति मुसलमानों ने लूट ली। यह चित्तौड़ की वास्तविक पतन था, उसकी स्वाधीनता सदा के लिए (जब तक सारे देश की स्वाधीनता के कारण वह मुक्त नहीं हुआ) समाप्त हो गयी। इस नृशंसतापूर्ण कुकृत्य की सभी ने एक स्वर से निंदा की है। इस युद्ध में अकबर ने जो निर्दयता दिखायी थी उसके स्मरण से हृदय आज भी काँप उठता है। अकबर की कीर्ति सदा के लिए कलंकित हो गयी। अकबर का मूल्यांकन करते समय यह सदा याद रखने की बात है। जो भी अकबर ने चित्तौड़ में व्यवस्था और प्रबंध के नाम पर किया उसमें तीन दिन लग गये। चित्तौड़ मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत एक सरकार (साही सूबे का एक भाग) बनाया गया। भावी शासन भार ख्वाजा अब्दुल मजीद आसफ खान को सौंपा था।[31]

उदयसिंह के अंतिम वर्ष : स्वयं उदयसिंह ने न चित्तौड़ की घेरा–बंदी के पहले, और न चित्तौड़ के पतन के बाद, अकबर की अधीनता स्वीकार की। चित्तौड़ के पतन से जहाँ दूसरे राजपूत राज्यों के शासक भयभीत हो गये, और मुगल बादशाह की शरण में चले गये, उदयसिंह ने अपनी स्थिति नहीं बदली। परन्तु उदयसिंह ने न तो कभी हार मानी, न कभी शाहंशाह के सामने पहुँचने के प्रलोभन को स्वीकार किया। चित्तौड़ युद्ध के पहले भेजी गयी शाही सेनाएँ उसे पकड़ नहीं सकी। मेवाड़ के जिस प्रदेश को उन्होंने अपने पैरों के तले रौंदा उस पर वे अपना कब्जा नहीं रख सकीं, और बाद में मुगल सम्राट उधर आक्रमण करने की सोच भी नहीं सका। उदयसिंह स्वाधीन और सम्मानप्रद स्थिति में ही इस संसार से उठा।[32]

सन्दर्भ–

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, आगरा, 1954, पृ0 54।
2. राजेन्द्र भांकर भट्ट, मेवाड़ के महाराणा और शाहंशाह अकबर, जयपुर, 1997,पृ0 20।
3. वही।
4. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 30।
5. शोध पत्रिका, भाग 3, पृ0 18।
6. वही।
7. अबुल फजल, अकबरनामा (मूल), भाग 2, कलकत्ता, 1873–87, पृ0 380–381।
8. निजामुद्दीन अहमद, तबकात–ए–अकबरी, अनु0 बी0 डे, भाग 2, कलकत्ता, 1973, पृ0 262।
9. बदायूँनी, मुन्तखब–उत्त–तवारीख (मूल), भाग 2, कलकत्ता, 1864–69, पृ0 48।
10. वी0 ए0 स्मिथ, अकबर दि ग्रेट मोगल, (1542–1605) नई दिल्ली, 1958, पृ0 82।
11. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 47।
12. वही, पृ0 50।
13. वीर विनोद, भाग 2, पृ0 422–443 के अनुसार इस समिति में कई सरदार उपस्थित थे जिनके नाम इस प्रकार है–जयभाल, विक्रमदेवोत, रावत साईदास चुडांवट, इसरदास चौहान, राव बल्लू सोलंकी, राव संग्रामसिंह, राव साहिबखांन, रावत पत्ता, रावल नैनसी, राजकुमार भाक्तिसिंह और प्रताप।
14. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 73–75।
15. वी0 ए0 स्मिथ, पूर्वोद्धृत, पृ0 85।
16. जेम्स टाड, एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटीज आफ राजस्थान, भाग 1, नई दिल्ली, 1971, पृ0 372।
17. वीर विनोद, भाग 3, पृ0 86।
18. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, अजमेर, 1982, पृ0 472।
19. एस0 आर0 शर्मा, प्रताप, लाहौर, पृ0 12।
20. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 75।
21. वही, पृ0 78।
22. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, आगरा, 1973,पृ0 280।
23. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ0 61।
24. अकबरनामा (मूल) भाग 2, पृ0 395।
25. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 89।
26. निजामुद्दीन अहमद, तबकात–ए–अकबरी, अनु0 बी0 डे0 भाग 1, पृ0 326।
27. अकबरनामा (मूल) भाग 2, पृ0 398।
28. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 92।
29. वही।
30. अकबरनामा (मूल) भाग 2, पृ0 404; मुन्तखब–तवारीख (मूल) भाग 2, पृ0 104
31. राजेन्द्र शंकर भट्ट, पूर्वोद्धृत, पृ0 105–106।
32. वही, पृ0 119–120।

●●●●

*शोध छात्र, इतिहास विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-17

उत्तरकालीन भारत में वजीर : एक परिचय

नीरज कुमार श्रीवास्तव*

भारत के मध्यकालीन इतिहास में मुस्लिम शासकों के बाद वजीर का पद ही सबसे महत्वपूर्ण हुआ करता था। यही कारण था कि सल्तनत काल से लेकर उत्तर कालीन मुगल सम्राटों के शासन काल तक वजीर ही दरबार का मुख्य केन्द्र बिन्दु बना हुआ था। वजीर की स्थिति में उस समय और अधिक परिवर्तन हुआ, जब औरंगजेब की मृत्यु के बाद निर्बल एवं दिशाहीन मुगल सम्राटों का शासन आरम्भ हुआ। वास्तव में दिल्ली सुल्तानों के शासन काल में भी वजीर का पद दरबारी संघर्ष का केन्द्र बिन्दु बन चुका था, किन्तु उत्तर कालीन मुगल सम्राटों के शासनकाल तक आते–आते मुगल दरबार की सम्पूर्ण राजनीति का वही मुख्य केन्द्र बिन्दु बन गया।

1707 ई0 में बहादुर शाह के राज्यारोहण के साथ मुनीम खाँ वजीर बना।[1] पद–वितरण में बहादुर शाह के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती वजीर के पद को लेकर थी। यह एक प्रकार से पुरस्कार का पद बन चुका था, जिसे सम्राट अपने निकटतम सहयोगी एवं विश्वसनीय व्यक्तियों को देता था।

उत्तराधिकार के युद्ध के पहले बहादुरशाह ने अपने घनिष्ट मित्र एवं सहयोगी मुनीम खाँ को वजीर का पद देने का निश्चय कर लिया था। वजीर के पद पर मुनीम खाँ का अधिकार इसलिए और भी बनता था, क्योंकि उत्तराधिकार के युद्ध में उसने धन एवं सेना से बहादुरशाह की काफी मदद की थी। उसके सहयोग का ही फल था कि बहादुरशाह को मुगल सम्राट बनने में सफलता प्राप्त हुई।

उत्तर कालीन मुगल सम्राटों के शासनकाल की यह एक महत्वपूर्ण घटना है जब किसी ईरानी या तूरानी की उपेक्षा करके मुनीम खाँ को वजीर का पद सौंपा गया था।

बहादुरशाह उदारवादी नीति का समर्थक था, औरंगजेब की भाँति उसके विचार संकीर्ण एवं रूढ़िवादी नहीं थे। आरम्भ से ही उसका झुकाव सूफी मत की ओर था। उसका वजीर एवं मित्र मुनीम खाँ भी सूफी मत को मानने वाला था। इसका परिणाम यह हुआ कि बहादुरशाह के शासन–काल में औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता देखने को नहीं मिलती।

उदारवादी एवं कट्टरवादी विचार धाराओं के बीच पहला संघर्ष मुगल सम्राट शाहजहाँ के समय से शुरू हुआ था। दाराशिकोह एवं औरंगजेब के बीच लड़ाई दो विचारधाराओं के बीच की लड़ाई थी। एक तरफ दाराशिकोह जो विद्वान एवं उदारवादी विचारधारा का समर्थक था, तो दूसरी तरफ औरंगजेब जो कि एक कट्टर मुसलमान था, इस्लामी नियमों का कट्टरता से पालन करता था। लेकिन दुर्भाग्य से उत्तराधिकार के युद्ध में 30 अगस्त 1659 ई0 को दाराशिकोह का क्रूरतापूर्वक वध कर दिया गया।[2] यदि उत्तराधिकार के युद्ध में दाराशिकोह को विजय प्राप्त होती तो वह महान सम्राट अकबर की उदारवादी नीतियों को लागू करता और ऐसी स्थिति में भारत का इतिहास कुछ और होता। औरंगजेब ने अपने लम्बे शासन–काल में कट्टर इस्लामी शासन की नींव रखी।

21 फरवरी 1707 ई0 को मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद, उसके पुत्रों में जो उत्तराधिकार का संघर्ष हुआ, संघर्ष करीब–करीब शाहजहाँ के पुत्रों में हुए उत्तराधिकार के युद्ध के समान था। क्योंकि एक तरफ मुअज्जम, जो कि उदार एवं समझौतावादी था, तो दूसरी तरफ आजम जो एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी एवं गर्म स्वभाव का शाहजादा था। लेकिन उत्तराधिकार के इस संघर्ष में शाहजादा मुअज्जम को विजय प्राप्त हुई तथा बहादुरशाह के नाम से उसका राज्यारोहण 1707 ई0 में सम्पन्न हुआ।

बहादुरशाह ने अपने शासनकाल में सुलह एवं समझौते की नीति का पालन किया, किन्तु सिक्खों के प्रति उसका व्यवहार कठोर था। सुलह एवं समझौते की नीति पर चलते हुए 28 फरवरी 1711 ई0 को वजीर मुनीम खाँ की मृत्यु हो गयी।[3] मुनीम खाँ की मृत्यु के बाद कुछ समय तक वजीर का पद रिक्त रहा।

सम्राट बहादुरशाह प्रथम की मृत्यु के बाद तैमूरी खानदान के शाहजादों में एक बार पुनः सिंहासन को प्राप्त करने के लिए संघर्ष शुरू हो गया। इस बार मुगल शाहजादे दो गुटों में बटे हुए थे। एक गुट का नेतृत्व बहादुरशाह का योग्यतम पुत्र अजीमुश्शान कर रहा था, तो दूसरे खेमें की कमान मुगल दरबार के सबसे प्रभावशाली ईरानी सरदार जुल्फिकार खाँ के हाथों में थी। इस प्रकार बहादुरशाह का योग्यतम पुत्र अजीमुश्शान तथा सबसे प्रभावशाली ईरानी सरदार जुल्फिकार खाँ आमने सामने थे। लेकिन उत्तराधिकार के इस संघर्ष में अजीमुश्शान की पराजय हुई। वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त महात्वाकांक्षी ईरानी नेता जुल्फिकार खाँ अजीमुश्शान की भाँति बारी–बारी से अन्य शाहजादों जहाँदारशाह एवं रफीउश्शान को भी अपने रास्ते से हटा दिया, तथा अयोग्य एवं निर्बल शाहजादा जहाँदारशाह का पक्ष लेकर उसे मुगल सम्राट घोषित कर दिया। ज्ञातव्य है कि जहाँदारशाह की इस सफलता के पीछे जुल्फिकार खाँ का सबसे अधिक योगदान था, अतएवं सम्राट ने उसे 10,000 जात एवं 10,000 सवार का सम्मानजनक पद देकर अपना वजीर बना दिया। जहाँदारशाह के समय वजीर के पद का महत्व उस समय और अधिक बढ गया, जब जहाँदारशाह ने जुल्फिकार खाँ को वजीर के पद के साथ–साथ दक्षिण की सूबेदारी भी प्रदान की।

वजीर जुल्फिकार खाँ के प्रभाव से विवादित

जजिया कर समाप्त करने का प्रस्ताव सम्राट जहाँदारशाह के समक्ष प्रस्तुत किया गया। उल्लेखनीय है कि जो जुल्फिकार खाँ कभी औरंगजेब की कट्टरनीतियों का प्रबल समर्थक था। उसने जहाँदारशाह के शासन काल में हिन्दुओं पर से जजिया कर हटाने का प्रस्ताव रखा था। यद्यपि यह यथावत लागू न हो सका, किन्तु यह वजीर के दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन को व्यक्त करता है।

उत्तर कालीन मुगल सम्राटों के इतिहास में वजीरों के क्रम में एक नया मोड़ उस समय आया जब फर्रूखसियर (1713–1719 ई0) मुगल सम्राट बना। यह प्रथम अवसर था, जबकि ईरानियों व तूरानियों से हटकर किसी सैयद को जो शिया मुसलमान थे, को वजीर बनाया गया। इन सैयदों पर हिन्दू समर्थक होने का गम्भीर आरोप था, किन्तु सैयद भाइयों के बल पर ही फर्रूखसियर सम्राट बना था, इसलिए वह चाहकर भी अहमद बेग को अपना वजीर न बना सका और विवश होकर सैयद अब्दुल्ला खाँ को 7,000 जात व 7,000 सवार का पद देकर वजीर के पद पर नियुक्त किया। इसके अलावा उसे मुल्तान की अनुपस्थित सूबेदारी भी प्राप्त हुई।

सैयद अब्दुल्ला खाँ के इस आकस्मिक उत्थान से तूरानी व ईरानी दोनों दलों की चिन्ता का बढ़ना स्वभाविक था। पिछले लगभग 200 वर्षों से मुगल दरबार की राजनीति के वे प्रमुख अंग बन गये थे। यद्यपि राजपूतों व मराठों के मुगल दरबार में आने से उनकी स्थिति पहले की अपेक्षा कमजोर हो चुकी थी। तथापि अभी भी वे अपने को मुगल साम्राज्य का वास्तविक कर्ता–धर्ता मानते थे। सैयदों को वे कुलहीन तथा निम्न जाति का व्यक्ति स्वीकार करते थे। इसलिए अब्दुल्ला खाँ के अस्तित्व को वे हजम नहीं कर पा रहे थे।

सैयद अब्दुल्ला खाँ उदार प्रवृत्ति का व्यक्ति था और उसका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। वह सभी धर्मों का आदर करता था और विशेष रूप से हिन्दुओं के प्रति वह अधिक उदार था। यही कारण था कि उसके पूरे कार्यकाल में इस्लाम के कट्टरपंथी सरदार उसका निरंतर कड़ा विरोध करते रहे। किन्तु इससे अब्दुल्ला खाँ की शक्ति कम नहीं हुई और वह दिन प्रतिदिन शक्तिशाली होता चला गया। यहाँ तक कि जब सम्राट फर्रूखसियर अब्दुल्ला खाँ के प्रभाव से मुक्त होने के लिए विरोधी गुटों को एक जुट करने लगा, उस समय अब्दुल्ला खाँ ने अपने कुशल कूटनीतिज्ञ होने का परिचय दिया था। उसने बड़ी कुशलता से फर्रूखसियर के श्वसुर महाराजा अजीत सिंह को अपनी तरफ मिला लिया और अन्य प्रतिद्वन्दी दरबारियों को या तो दरबार से हटाकर दूर भेज दिया अथवा उन्हें अपनी तरफ मिला लिया। यहाँ तक कि तूरानियों के सबसे प्रमुख नेता चिनकुलिच खाँ (निजामुलमुल्क) को भी दक्षिण की सूबेदारी सौंप कर उसे अपने पक्ष में कर लिया। इतना ही नहीं अब्दुल्ला खाँ स्वयं निजामुलमुल्क के निवास पर जाकर उससे भेंट की और कहा कि, "हम तीन भाई हैं जिसमें निजामुलमुल्क सबसे बड़ा तथा हुसैन अली खाँ सबसे छोटा है।"

अब्दुल्ला खाँ ने अपने समय में कुछ नये प्रयोग भी किये। निर्बल एवं दिशाहीन सम्राटों को अस्तित्व में रखकर उसने सभी प्रशासनिक एवं वित्तीय अधिकार अपने हाथ में ले लिए। सर्वशक्तिमान होते हुए भी उसने सम्राटों को पदच्युत करके कभी भी राजसत्ता को अपने हाथ में लेने का प्रयास नहीं किया। उसने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि यदि शासक अयोग्य है तो वह शासन का संचालन कर सकता है।

सैयद अब्दुल्ला खाँ 1719 ई0 में अपनी शक्ति के चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था। इसी वर्ष उसने 28 फरवरी को फर्रूखसियर को पदच्युत कर अपनी अपार शक्ति का परिचय दिया था। अब मुगल दरबार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नही था, जो उन्हें चुनौती दे सकता था। वे अपनी इच्छानुसार किसी भी मुगल शहजादे को अपना सम्राट बना सकते थे, तथा उन्हें पदच्युत करने की भी क्षमता रखते थे। इसी कारण इतिहास में उन्हे "सम्राट निर्माता" भी कहा जाता है। 1713 ई0 से 1719 ई0 तक का युग सैयद भाइयों के युग के नाम से प्रसिद्ध है। 1719 ई0 सैयद भाइयों के इतिहास का गौरवशाली वर्ष माना जा सकता है।

अपने अनुज हुसैन अली खाँ के सहयोग से फर्रूखसियर को पदच्युत करने के बाद क्रमशः रफी–उद–दरजात, रफी–उद–दौला एवं मुहम्मदशाह को सम्राट बनाया। यह वजीर के रूप में अब्दुल्ला खाँ की शक्ति का चरम बिन्दु था। अब अब्दुल्ला खाँ का इतना दबदबा था कि मुगल सम्राट को भोजन भी अब्दुल्ला खाँ द्वारा नियुक्त हिम्मत खाँ बारहा की देख–रेख में दिया जाता था। मुगल सम्राटों को स्वतंत्र रूप से जामा मस्जिद जाने की भी अनुमति नहीं थी। अब्दुल्ला खाँ द्वारा नियुक्त सम्राटों का संरक्षक हिम्मत खाँ बारहा साये के समान हमेशा मुगल सम्राटों के साथ रहता था, जिससे सम्राट की गतिविधियों पर पूर्ण अंकुश लग सके।

उत्थान एवं पतन एक दूसरे के पूरक हैं, जिसका उत्थान होता है, उसका पतन होना स्वभाविक है। अब्दुल्ला खाँ भी इससे वंचित न था।

सैयद भाइयों के विरोधियों ने 1720 ई0 में षडयन्त्र करके पहले सैयद हुसैन अली खाँ की हत्या कर दी। तत्पश्चात् नवम्बर माह में हसनपुर के युद्ध में अब्दुल्ला खाँ को पराजित कर बन्दी बना लिया। 1722 ई0 में बन्दी गृह में विष देकर अब्दुल्ला खाँ की जीवन लीला समाप्त कर दी गयी। इस प्रकार उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के इतिहास के अन्तर्गत एक नये युग का अन्त हो गया, जिसमें अब्दुल्ला खाँ व उसका भाई सैयद हुसैन अली खाँ सम्पूर्ण मुगल दरबार की राजनीति के मुख्य केन्द्र बिन्दु बने हुए थे। एक सामान्य सैनिक के पद से उठकर, वजीर के पद पर पहुँचकर अपनी योग्यता के बल पर उन्नति के शिखर तक पहुँचने वाला अब्दुल्ला खाँ ने एक नया इतिहास रच दिया। वह एक कुशल सेनापति और महान कूटनीतिज्ञ था। वह शासन में अनुभवी एवं उदार था। सत्ता पर काबिज होने पर

उसने कभी मुड़कर नहीं देखा। वह शान्त स्वभाव का कुशल राजनीतिज्ञ था, बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से वह विचलित नहीं होता था। यदि उसके चरित्र में अत्यधिक विलासी होने का दोष नहीं होता तो निःसन्देह उसकी स्थिति और भी सुदृढ़ रही होती। इस विलासिता के दुर्गुण के बावजूद अब्दुल्ला खाँ 18 वीं शताब्दी के महानतम सरदारों में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

अब्दुल्ला खाँ के पतन के साथ ही सम्राट मुहम्मदशाह ने मुहम्मद अमीन खाँ को 8,000 जात एवं 8,000 दो अस्पा सवार का पद देकर वजीर के पद पर नियुक्त कर दिया।[10] इसके अतिरिक्त सैयद बन्धुओं के विरुद्ध षडयन्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण एक करोड़ पचास लाख रुपये का नकद पुरस्कार भी प्रदान किया गया। साथ ही मुल्तान की अनुपस्थित सूबेदारी भी उसे मिली।

उल्लेखनीय है कि उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के शासन काल में यह पहला अवसर था जब वजीर का पद किसी तूरानी मुगल सरदार को सौंपा गया। वजीर के रूप में मुहम्मद अमीन का कार्यकाल काफी अल्पकालीन था। नवम्बर 1720 ई0 में उसे वजीर के पद पर नियुक्त किया गया था, परन्तु तीन महीने के उपरान्त 27 जनवरी 1721 ई0 को हृदय रोग से उसकी मृत्यु हो गयी थी। उसके शासनकाल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी। अमीन खाँ की मृत्यु के बाद एक वर्ष तक वजीर का पद रिक्त था।

मुहम्मद अमीन खाँ की मृत्यु के लगभग एक वर्ष बाद उसका चचेरा भाई निजामुलमुल्क 8 फरवरी 1722 ई0 को वजीर के सम्मानित पद पर नियुक्त हुआ।[11] यह सत्य है कि निजामुलमुल्क के वजीर बनने के बाद उसकी चिरकालीन महत्वाकांक्षा तो अवश्य पूरी हुई, परन्तु वह इस पद का मीठा स्वाद न ले सका। समकालीन इतिहासकार खाफी खाँ ने लिखा है कि निजामुलमुल्क अपनी दूरदर्शिता से मुगल साम्राज्य को विद्रोहों एवं आर्थिक संकट से उबारना चाहता था, परन्तु दरबारियों में उसके प्रति द्वेष एवं ईर्ष्या की भावना थी। वे निजाम के द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्यों का विरोध करते और रिश्वत तथा अनुचित भेंट स्वीकार करके मुगल सम्राट को बदनाम करते थे। खाफी खाँ ने आगे यह भी लिखा है कि इन कारणों से निजामुलमुल्क ने समझ लिया कि वजीर के पद पर रहकर वह कोई उचित कार्य करने को स्थिति में नहीं है।

इन कठिनाइयों के बीच निजामुलमुल्क मुगल दरबार की दशा सुधारने के लिए दृढ़ संकल्प था। वह ताज की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना चाहता था। वह इस बात को कभी पसन्द नहीं करता था कि सम्राट निम्न एवं सामान्य लोगों के बीच ही अपना समय व्यतीत करे। परन्तु सम्राट हमेशा अपने चाटुकारों से घिरा रहता था। फलतः जब कभी भी निजामुलमुल्क उनके विरुद्ध कुछ नयी योजनाएं प्रस्तुत करता था, तो ये लोग एकजुट होकर यह कहकर उसका विरोध करते थे कि ये योजनाएं नयी तथा शासन के लिए अहितकारी है। परन्तु निजामुलमुल्क मुगल दरबार की दशा को सुधारने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था। सबसे पहले उसने दरबार में अनुशासन स्थापित करने की कोशिश की थी।

दरबार में उस समय मुख्य रूप से दो दल प्रमुख थे, जो निजामुलमुल्क की योजनाओं के घोर विरोधी थे। एक दल कूकी जीऊ तथा ख्वाजा खिदमतगार का था, तो दूसरा मुगल दरबार के उन महत्वाकांक्षी अमीरों का था, जिनकी निजामुलमुल्क के आने से उनकी आशाओं पर पानी फिर गया था। इन महात्वाकांक्षी अमीरों में हैदर कुली खाँ, सर बुलन्द खाँ, बुरहानुलमुल्क तथा खाने दौरान जैसे लोग सम्मिलित थे। फलतः दरबार के दलीय संघर्ष से उबकर तथा अपने भावी कार्यक्रम को साकार करने के लिए अक्टूबर 1723 ई0 में उसने वजीर जैसे सम्मानित पद से त्याग पत्र दे दिया।[12]

उल्लेखनीय है कि साखरखेड़ा के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद निजामुलमुल्क औरंगाबाद होते हुए हैदराबाद पहुँचकर, स्वतंत्र निजामशाही राज्य की स्थापना की थी। उसका दिल्ली के केन्द्रीय शासन से सम्बन्ध समाप्त हो गया। इसके बाद शासन सम्बन्धी विषयों पर, सम्राट की अनुमति के लिए निजामुलमुल्क ने कोई पत्र नहीं भेजा और न राजस्व को ही शाही कोष में जमा किया। एक स्वतंत्र शासक की भाँति आचरण करते हुए निजामुलमुल्क युद्ध घोषित करता तथा विभिन्न राज्यों के साथ सन्धियाँ स्थापित करता। सम्राट की तरह ही वह नियुक्तियाँ करते हुए आदर सम्मान एवं उपाधियाँ भेंट करने लगा। सम्राट भी दक्षिण में निजाम के कार्यों में हस्तक्षेप की स्थिति में नहीं था। निजाम के विरुद्ध उसकी नीति पूर्ण रूप से विफल हो चुकी थी। फलतः सम्राट ने विवश होकर 20 जून 1725 ई0 को उसे क्षमा कर दिया तथा दक्षिण की सूबेदारी सौंपकर 'आसफ जहाँ' की पदवी प्रदान की।

निजामुलमुल्क तलवार के साथ–साथ कलम का भी धनी था। वह एक सफल कूटनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक और साहसी योद्धा होने के अलावा एक उच्च कोटि का विद्वान भी था। वह तुर्की एवं फारसी दोनों ही भाषाओं में पारंगत था। अपने तूरानी सरदारों से प्रायः वह तुर्की भाषा में ही बात किया करता था।

इस प्रकार यह निःसंदेह रूप से कहा जा सकता है कि निजामुलमुल्क आसफजाह भारत में 18 वीं शताब्दी के अद्भुत व्यक्तियों में से एक था। विलक्षण बुद्धि, साहस, युद्धकला, दूरदर्शिता, स्वामिभक्ति, कूटनीतिज्ञता, सैनिक क्षमता एवं प्रशासन के क्षेत्र में बाजीराव पेशवा को छोड़कर कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जिसकी तुलना निजामुलमुल्क से की जा सकती थी।

निजामुलमुल्क के दक्षिण जाने के बाद ही वजीर का पद 22 जुलाई 1724 ई0 को मुहम्मद अमीन खाँ के पुत्र मीर कमरूद्दीन के हाथों में आ गया। उसे 8,000 जात व 8,000 सवार का मनसब प्रदान किया गया, परन्तु पूर्व अमीरों की भाँति उसे कोई महत्वपूर्ण सूबा नहीं प्रदान किया गया।

निजामुलमुल्क के दक्षिण जाते ही मुगल दरबार की राजनीति तीन प्रभावशाली दलों में विभाजित हो गयी। जिनमें कूकी जीऊ, मीर कमरूद्दीन खाँ तथा खाने दौरान के दल प्रमुख रूप से शामिल थे। इस प्रकार मुगल दरबार के गुटबाजी का जो इतिहास 1725 ई0 में शुरू हुआ था, वह 1739 ई0 अर्थात नादिरशाह के आक्रमण तक चलता रहा। नादिरशाह के विरुद्ध रणनीति को लेकर भी मुगल दरबार के अमीरों में गहरा मतभेद चलता रहा। निजामुलमुल्क का यह प्रस्ताव था कि शाहजादा अहमदशाह को शाही सेना का नेतृत्व सौंपा जाय परन्तु मीर बख्शी खाने दौरान ने इस पर असहमति प्रकट की। इस आपसी मतभेद के कारण अंत में यह तय हुआ कि सम्राट स्वयं नादिरशाह की सेना के विरुद्ध मुगल सेना की कमान सम्भाले। मतभेद के कारण ही नादिरशाह की विजय हुई तथा मुगल सेना की पराजय हुई।

सम्राट मुहम्मदशाह को मुकुट सौंपकर नादिरशाह वापस ईरान चला गया। मुहम्मदशाह पुनः मुगल सम्राट बन गया, और मीर कमरूद्दीन खाँ उसका पूर्ववत वजीर बना रहा। लुंज–पुंज मुगल साम्राज्य अपने पतन की ओर अब द्रुतगति से अग्रसर हो चुका था। अब उसका पतन स्वाभाविक था। आगे चलकर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने मुगल साम्राज्य की जड़ें हिला दीं। मुहम्मदशाह 1748 ई0 तक मुगल सम्राट बना रहा। लगभग इसी वर्ष तक मीर कमरूद्दीन खाँ भी वजीर के पद पर कायम था। यह संयोग की बात है कि 1748 ई0 में ही सम्राट मुहम्मदशाह और उसके वजीर मीर कमरूद्दीन खाँ की मृत्यु हो गयी। इसमें संदेह नहीं कि उत्तरकालीन मुगल वजीरों के क्रम में मीर कमरूद्दीन खाँ का नाम भी सम्मिलित है, किन्तु इतिहास में उसका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है।

उत्तर कालीन मुगल सम्राटों के शासन काल में प्रमुख वजीरों की सूची–

क्र0सं0	वजीरों के नाम	कब से कब तक
1.	मुनीम खाँ	: जून 1707 ई0– 28 फरवरी 1711 ई0 तक।
2.	सादुल्ला खाँ (कार्यवाहक वजीर)	: फरवरी 1711 ई0– मार्च 1712 ई0 तक।
3.	जुल्फिकार खाँ	: मार्च 1712 ई0– 01 फरवरी 1713 ई0 तक।
4.	सैयद अब्दुल्ला खाँ	: फरवरी 1713 ई0– 13 नवम्बर 1720 ई0 तक।
5.	मुहम्मद अमीन खाँ	: नवम्बर 1720 ई0– 27 जनवरी 1721 ई0 तक।
6.	इनायतुल्ला खाँ काश्मीरी (कार्यवाहक वजीर)	: जनवरी 1721 ई0– 07 फरवरी 1722 ई0 तक।
7.	निजामुल मुल्क	: 08 फरवरी 1722 ई0– अक्टूबर 1723 ई0 तक।
8.	गाजीउद्दीन खाँ (कार्यवाहक वजीर)	: अक्टूबर 1723 ई0– 21 जुलाई 1724 ई0 तक।
9.	मीर कमरूद्दीन खाँ	: 22 जुलाई 1724 ई0– 1748 ई0 तक।

सन्दर्भ–

1. चन्द्र, डॉ0 सतीशः उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ0–43
2. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोकः उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–34
3. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोकः मध्यकालीन भारत, भाग–2, पृ0–303
4. चन्द्र, डॉ0 सतीश : उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ0–63
5. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोकः उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–84
6. चन्द्र, डॉ0 सतीश : उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ0–78
7. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोक : उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–102
8. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोक : उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–163, 164
9. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोक : उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–151
10. चन्द्र, डॉ0 सतीश : उत्तर मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ0–135
11. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोक : उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–182
12. श्रीवास्तव, प्रो0 अशोक : उत्तर मुगलकालीन भारत (1707–1761 ई0), पृ0–192

●●●●

*प्रवक्ता, इतिहास, श्री सिहेंश्वरी इण्टर कालेज,
तेतरी बाजार–सिद्धार्थनगर (उ0प्र0)
शोध छात्र, इतिहास विभाग,
डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय
फैजाबाद (उ0प्र0)

अकबर का राजपूत सम्बन्ध : 'एक नीतिगत आलोक में'

डॉ. कमलकिशोर*

अकबर ने अपनी महानता के अनुरूप मुगलों की राजपूत नीति में आधारभूत परिवर्तन किया था। उसका प्रधान लक्ष्य भारत में विदेशी वंश के लिए एक नये साम्राज्य की स्थापना करना और उसे दृढ़ एवं सुरक्षित करना था। अस्तु उसे देश में ऐसे मित्रों की तलाश थी जो उसे समर्थन और सहयोग दे सके। धार्मिक अनुदारता की नीति को अपना कर वह ऐसे अवसर का गला नहीं घोटना चाहता था। राजपूत अपनी वीरता और शौर्य के लिए देश के इतिहास में विख्यात थे। अकबर ने उचित ही सोचा कि अगर उनकी शत्रुता मुगल साम्राज्य को घातक प्रमाणित हो सकती है तो उनकी मित्रता अवश्य ही उसके लिए उपयोगी साबित होगी। अतः अकबर ने राजपूतों के साथ जो व्यवहार किया यह उसके विवेकपूर्ण स्वार्थ, गुणों का आदर, न्याय एवं मानवता के व्यवहार की भावना निहित राजपूतों के प्रति अकबर के द्वारा अपनायी गयी उदारता एवं सहयोग की नीति पर आधारित था।

अकबर ने अनुभव किया था कि भारत की अधिकांश जनता मुगल राजवंश को विदेशी समझती थी। यह भावना नूतन मुगल साम्राज्य के विकास के मार्ग में एक शक्तिशाली अवरोधक थी। मुगल शासक तैमूर के वंशज थे।[1] उन्होंने भारत को अफगानों से छीना था। अतः अफगान मुगलों के कट्टर विरोधी हो गये। भारत की सामान्य जनता भी मुगलों को लुटेरा एवं विदेशी ही समझती थी। इस देश के लोगों के हृदय में मुगल राजवंश एवं साम्राज्य के लिए किसी तरह की सहानुभूति नहीं थी। ऐसी अवस्था में एक स्थायी, शक्तिशाली एवं विस्तृत साम्राज्य की कल्पना दिवा स्वप्न मात्र थी। राजपूतों का सहयोग प्राप्त कर अकबर अपने इस सपने को साकार करना चाहता था। मुगल राजवंश विदेशी होने के कारण उसे युद्धों में विदेशी सैनिकों पर निर्भर रहना पड़ता था। यह एक विकट समस्या थी। कोई भी राजवंश विदेशी सैनिकों की शक्ति पर कब तक टिका रह सकता है। विदेशी सैनिकों की प्राप्ति आसानी से हो सकती थी। इसके अलावा ऐसी सरकार जनता के बीच कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती थी। अकबर ने उचित ही ऐसा अनुभव किया और वीर राजपूतों का सहयोग प्राप्त कर सिर्फ भारतीय सैनिकों की प्राप्ति ही नहीं वरन् इस राजवंश पर राष्ट्रीयता की छाप लगाने का प्रयत्न किया।

राजस्थान की भौगोलिक स्थिति ने भी अकबर को इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। सामरिक दृष्टि से राजस्थान के कुछ क्षेत्र तथा दुर्ग मुगलों के लिए विशेष महत्व रखतें थे। आन्तरिक शान्ति की स्थापना तथा वाह्य सुरक्षा के लिए इन क्षेत्रों पर प्रभाव स्थापित करना अकबर के लिए आवश्यक हो गया था। क्योंकि राजस्थान से होकर ही मुगल पश्चिमोत्तर तथा मध्य एशियाई क्षेत्रों से अपना सम्बंध बनाए रखते थे। राजस्थान, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के देशों और दिल्ली के बीच होने वाले व्यापार के प्रधान मार्ग पर पड़ता था।[2] इस प्रकार राजस्थान की भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक, सामरिक तथा आर्थिक दृष्टि से मुगलों के लिए बड़े ही महत्व की बात थी। अतः इस क्षेत्र पर प्रभाव स्थापित करना उसके लिए अनिवार्य सा हो गया।

अकबर ने अपनी राजनीतिक सूझ–बूझ के कारण भी राजपूतों के साथ मित्रता की नीति को अपनाया। उसने एक स्थायी एवं शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना तथा उसके विस्तार के लिए दृढ़ संकल्प किया। वह प्रथम मुगल सम्राट था जिसने यह स्वीकार किया कि बिना राजपूतों के सहयोग से उसको इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः राजपूत अभी भी अत्यन्त शक्तिशाली थे और भीतर राजनीति में वे अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए थे। राजपूतों का समर्थन प्राप्त कर लेने से उसके वंश का विदेशीपन दब जाता और उस पर राष्ट्रीयता की छाप लग जाती। इसके अलावा उसे राष्ट्रीय सद्भावना प्राप्त होती जिससे मुगल राजवंश की नींव सुदृढ़ हो जाती। यहाँ डॉ0 ईश्वरी प्रसाद का मत उचित ही लगता है कि अकबर की विशिष्ट राजपूत नीति का उद्देश्य एक नये राजनीतिक पक्ष की स्थापना थी जिससे हिन्दू तथा मुसलमान एक–दूसरे का हित करते हुए मुगल साम्राज्य के सबल स्तम्भ बने रहते।[3] राजपूतों के प्रति अकबर की इस उदारता के कतिपय दूसरे कारण भी प्रस्तुत किए गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि एक राजपूत की छत्रछाया में जन्म लेने के कारण भी उसमें राजपूतों के प्रति श्रद्धा एवं सहानुभूति की भावना का समावेश हुआ। उसके पिता एवं माता हुमायूँ और हमीदा बानू बेगम अत्यन्त उदार चरित्र के व्यक्ति थे। अकबर का शिक्षक अब्दुल लतीफ एवं उसका संरक्षक बैरम खाँ की उदारता भी प्रशंसनीय थी।[4] अपनी उदारवादी भावनाओं से अनुप्रेरित होकर ही उसने राजपूतों के प्रति मित्रता एवं सहयोग की नीति का पालन किया था। यह कहना उचित नहीं होगा कि मात्र स्वार्थ के कारण ही उसने राजपूतों के प्रति उदार नीति को अपनाया था।

अकबर की राजपूत नीति का उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उसने शान्ति एवं युद्ध दोनों नीतियों का अवलम्बन किया। वह राजपूतों पर अपनी सेना की धाक जमाना चाहता था। सर्वप्रथम उसने राजपूत शासकों की ओर अपनी मित्रता का हाथ बढ़ाया। अनेक राजपूत शासकों ने अकबर के साथ शान्तिपूर्वक सन्धि कर ली और उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया। कुछ राजपूत शासकों ने इसे अपना अपमान समझा और उसकी अधीनता स्वीकार करने से मना कर दिया। ऐसे ही शासकों के विरूद्ध अकबर को अपनी

तलवार उठानी पड़ी। सन्धि अथवा युद्ध के उपरान्त वह अधीनता स्वीकार करने वाले राजपूत शासकों को उनका संपूर्ण राज्य लौटा देता तथा उन राज्यों के आन्तरिक शासन का भार उन्हीं राजाओं पर छोड़ देता था, किन्तु ऐसे राज्यों की विदेश नीति का संचालन वह अपने हाथों में ले लेता था। साम्राज्य के हितों की दृष्टि से उनके किसी दुर्ग के ऊपर मुगलों का अधिकार अनिवार्य समझा जाता था तो वह ऐसे दुर्ग को अपने अधीन कर लेता और उसके बदले में ऐसे शासकों को अन्य जागीर दे दी जाती थी।[5] अकबर मुगल साम्राज्य के विस्तार एवं शासन के संचालन हेतु राजपूत शासकों के सहयोग के लिए सदा तत्पर रहता था और उसकी प्रतिष्ठा एवं योग्यता के अनुसार उन्हें ऊँचे पदों पर बहाल करता था।

राजपूत शासकों के साथ इसी नीति का अनुसरण करते हुए अकबर ने आमेर (जयपुर) के कच्छवाहा राजवंश के साथ जनवरी 1561 ई0 में वैवाहिक संबंध स्थापित किया जब वह आगरे से चिश्ती के दरगाह का तीर्थाटन करने जा रहा था। आमेर के शासक भारमल ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और अपनी पुत्री की शादी अकबर के साथ कर दी। इस घटना के बाद अकबर ने भारमल के पुत्र भगवान दास और उसके पौत्र मानसिंह को मुगल दरबार में ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। मुगलकालीन इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि गैर मुसलमानों को शासन के ऊँचे पदों पर नियुक्त किया गया था। अकबर ने यह अनुभव किया कि राजपूत मुसलमान अधिकारियों से कहीं अधिक स्वामिभक्त एवं उपयोगी थे। इसके पश्चात् ही अकबर ने उन राजपूत शासकों को मुगल दरबार में ऊँचे पद पर शासन में महत्वपूर्ण स्थान दिया।[6]

अकेला मेवाड़ ही एक ऐसा राज्य था जिसने अकबर की शांति संधि को अपमानजनक समझा और वहां के स्वाभिमानी राजपूत शासकों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा करने का प्रयत्न किया। चित्तौड़ मेवाड़ की राजधानी थी। यहां के वीर बांकुड़े राजपूत अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। अकबर के शासन काल के प्रारंभ में मेवाड़ के शासक राणा उदय सिंह थे। उदय सिंह के शासन काल में मेवाड़ का काफी उत्कर्ष हुआ और वह राजस्थान का सर्वशक्तिशाली राज्य हो गया था। उदय सिंह मेवाड़ के प्रभुत्व के विस्तार के लिए महत्वाकांक्षी था किन्तु दूसरी ओर प्रतापी मुगल सम्राट अकबर भी अपने साम्राज्य विस्तार हेतु दृढ़ संकल्प था। उदय सिंह मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था।[7] मेवाड़ के शासक के ऐसे विचार स्वाभिमानी अकबर के लिए असहनीय थे और वह मेवाड़ विजय के लिए व्यग्र हो उठा था। इसके अतिरिक्त मेवाड़ के राणा, मालवा के शासक बाज बहादुर को आश्रय देकर अकबर को अपना विरोधी बना लिया था। मेवाड़ दिल्ली और गुजरात के बीच में पड़ता है। अतः जब तक चित्तौड़ पर मुगल साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित नहीं हो जाता दिल्ली और गुजरात के बीच यातायात सुरक्षित नहीं था। इस प्रकार मेवाड़ और मुगल सम्राट के बीच युद्ध अनिवार्य हो गया। वैसे तो इन दोनों शक्तियों के बीच युद्ध का प्रारंभ 1560 ई0 के पूर्व ही हो चुका था किन्तु बाद में काफी तीव्रता आ गयी। मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ की घेराबन्दी करवा दी। चित्तौड़ के दुर्ग पर घेरा डालने में लगभग एक माह का समय लग गया और यह घेरा काफी समय तक पड़ा रहा। अकबर मेवाड़ को पराजित करने के लिए दृढ़ संकल्प था तथा दूसरी ओर राणा शत्रु को पीछे खदेड़ देने के लिए कटिबद्ध था। अपनी पराजय के बाद भी उसने अकबर की अधीनता को मानने से इनकार कर दिया। सिसोदियों के विरूद्ध इस युद्ध में मुगल सेना का संचालन स्वयं अकबर ने किया। उसके अधीन मुगल सैनिकों ने काफी सतर्कता बरती और अपनी योग्यता का उच्चतम परिचय दिया। राजपूतों ने डटकर मुगल सेना का सामना किया किन्तु शत्रु की सैन्य संख्या के सामने अधिक समय तक उनका टिकना असंभव था। युद्ध में राजपूतों की पराजय अवश्य हुई किन्तु जब तक एक राजपूत सैनिक भी बचा रहा उसने मुगलों से युद्ध किया। दुर्ग के अन्दर बचे हुए लगभग 30000 व्यक्तियों को कत्लेआम कर दिया गया। अकबर जैसे महान शासक के लिए यह नृशंसतापूर्ण कार्य अशोभनीय था। वह जयमल एवं फत्ता की वीरता से इतना प्रभावित हुआ कि इन वीर पुरूषों की स्मृति हेतु आगरे के किले के दरवाजे पर हाथियों पर आरूढ़ प्रस्तर मूर्तियों की स्थापना करवाया। 1568 ई0 की पराजय के पश्चात चित्तौड़ पर मुगल सम्राट का आधिपत्य हो गया किन्तु अभी भी मेवाड़ राज्य का एक बड़ा क्षेत्र राणा के अधीन रह गया था। उदय सिंह की मृत्यु के पश्चात प्रताप सिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उस समय परिस्थितियाँ निराशाजनक थी किन्तु जो व्यक्ति इतिहास का सृजन करता है परिस्थितियाँ उसके मार्ग में रोड़े नहीं अटका सकती है वह तो स्वयं अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करता है। प्रताप ने आजीवन अकबर के साथ युद्ध करने का निर्णय ले लिया था। उसका राजनीतिक लक्ष्य मेवाड़ को स्वतंत्र करना तथा चित्तौड़ पर पुनः अधिकार स्थापित करना था।[8]

जोधपुर के मालदेव ने अपनी पुत्री कनका की शादी गुजरात के सुल्तान महमूद के साथ किया था। दूसरी पुत्री लालबाई का विवाह सम्भवतः इस्लामशाह के सूर के साथ किया था किन्तु वे विवाह दोनों परिवारों के स्थायी व्यक्तिगत संबंधोंको स्थापित करने में सफल नहीं हुए। विवाह के बाद लड़कियों को सदा के लिए भुला दिया जाता था और वे वापस नहीं जाती थी। अकबर की नीति इससे भिन्न थी। उसने अपनी हिन्दू पत्नियों को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता दी और उनके संबंधियों को ऊँचे मनसब पद प्रदान किए। साथ ही वैवाहिक संबंधों को उसने कभी भी शर्त के तौर पर नहीं रखा। उसने शासक भारमल की पुत्री से शादी की। यह तात्कालिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। कालान्तर में अकबर ने बीकानेर, जैसलमेर, मारवाड़ एवं डूंगरपुर के राजपूत शासकों के साथ भी अपने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने अपने पुत्र सलीम की शादी जोधपुर की राजकुमारी साथ कर दी।

अकबर ने वैवाहिक संबंध को राजपूतों के साथ सन्धि का एक महत्वपूर्ण अंग बना दिया था। अकबर के वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं। डॉ0 ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में "यह वैवाहिक सम्बन्ध भारत की राजनीति में एक वर्तन विन्दु है। इसने मुगल वंश के चार शासकों का राज्य शासन अत्यन्त सुदृढ़ बना दिया। पुनः उन्होंने यह मत भी दिया है कि यह देश की सामाजिक एवं राजनीतिक समन्वय में सहायक साबित हुआ किन्तु कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें इस नीति में अकबर की धूर्त कूटनीतिज्ञता की गन्ध आती है।" इनके मत में अकबर ने इस निन्दनीय नीति के द्वारा वीर राजपूतों के स्वाभिमान को नष्ट कर उन्हें शासक से सेवक बना दिया। किन्तु ऐसे मत नितान्त भ्रममूलक हैं। इनके प्रतिपादन में ऐतिहासिकता के स्थान पर साम्प्रदायिक भावनाओं का अधिक सहारा लिया गया है। वस्तुतः अकबर ने अपने सभी राजपूत संबंधियों को वास्तविक रूप में अपना समझा और उनका उचित सम्मान किया। जिन राजपूत रमणियों को ब्याह कर लाता है उन्हें वह अपने हरम में मर्यादा के साथ रखता था। आमेर की राजकुमारी तो उसकी प्रधान रानी ही थी और उसी का पुत्र सलीम अकबर का उत्तराधिकारी हुआ। अतः अकबर की यह नीति उसकी उदारता और महानता का परिचायक है न कि उसकी धूर्तता का। फिर भी वह इन सामाजिक बन्धनों से अपनी राजनीति को महत्व देता था। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहता था जिससे साम्राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाए। अस्तु उसने वरिष्ठ राजपूत अधिकारियों को राजपूताना से दूर रखने का प्रयत्न किया जिससे वे साम्राज्य के विरूद्ध संगठित होकर षड़यन्त्र न कर सकें। जिन राजपूत दुर्गों की सुरक्षा के दृष्टिकोण से सम्राज्य के अधीन रखना उसने अनिवार्य समझा उन्हें जल्द ही अपने अधिकार में कर लिया और वहां मुगल सेना तैनात कर दी गयी। इतना ही नहीं उसने राजपूताना के राज्यों में उत्तराधिकार के झगड़ों से भी लाभ उठाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार से उसने अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु अनेक ऐसे मार्ग अपनाये जैसे स्वयं मुगल दरबार में उपस्थित होना आदि।

अन्ततः अपनी धार्मिक उदारता के द्वारा अकबर ने राजपूतों का हृदय जीतने का प्रयत्न किया। अकबर पहला भारतीय मुसलमान सम्राट था जिसने वास्तव में धार्मिक भेदभाव को मिटाकर भारत की समस्त जनता (हिन्दू तथा मुसलमान जातियों) को एक राष्ट्रीय सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया था। उसने 1563ई0 से 1564ई0 में हिन्दुओं पर से क्रमशः तीर्थयात्रा एवं जजिया जैसे काले करों को उठा दिया था। हिन्दुओं को अपने धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने की छूट दी गई अब वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने पर्व–त्यौहार मना सकते थे। इतना ही नहीं उसने स्वयं अनेक हिन्दू–विधियों को अपनाया और मुगल दरबार में होली, दशहरा एवं दीपावली जैसे हिन्दू पर्व भी मनाये जाने लगे। सम्राट ने मुगल राजमहल में अपनी हिन्दू रानियों के लिए पूजा–पाठ एवं मंदिरों का प्रबन्ध भी किया। उनके इन कार्यो से राज्य को वित्तीय हानि भी उठानी पड़ी और धर्मान्ध मुसलमानों का कोपभाजन भी बनना पड़ा किन्तु वह धार्मिक उदारता हेतु दृढ़ संकल्प था। क्या वह वीर राजपूतों अथवा हिन्दुओं के हृदय जीतने के लिए काफी नहीं था ? अकबर ने इस उद्देश्य से हिन्दू समाज की कतिपय कुत्सित प्रथाओं को हटाने की भी कोशिश की। उसने बाल–विवाह, सती प्रथा एवं जाति–पांत के भेदभाव को भी दूर करने का प्रयत्न किया। हिन्दू समाज में विधवाओं की स्थिति को सुधारने के लिए विधवा–विवाह को भी प्रोत्साहित किया। तत्कालीन हिन्दू समाज में लड़कियों का जन्म अभिशाप समझा जाता था, विशेष रूप से राजपूतों के बीच इस तरह की भावना की प्रबलता थी। अनेक क्षेत्रों में जन्म के साथ ही लड़कियों को मार डाला जाता था। अकबर ने इस प्रथा को निषिद्ध घोषित कर दिया। इस तरह से अकबर ने हिन्दुओं को सामान्य रूप से और राजपूतों को विशेष रूप से सफलतापूर्वक अपने पक्ष में लाने का भरसक प्रयत्न किया। अकबर की राजपूत नीति के प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण चिरस्थायी एवं दूरगामी साबित हुए। यह मुगल शासन काल में सिर्फ मेवाड़ के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर सम्पूर्ण राजपूताना ने मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया। आमेर, बीकानेर, जैसलमेर, मारवाड़, रणथम्भौर, कालिंजर, बासवाड़ा, डूंगरपुर, बूंदी एवं ओरछा के राज्यों ने अकबर के साथ संधि कर ली और उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया। द्वितीय राजपूत मुगल साम्राज्य के आधार स्तम्भ बन गये। सल्तनत शासन की स्थापना काल से लेकर अकबर के गद्दी पर बैठने के पूर्व तक राजपूत दिल्ली के तुर्क एवं अफगान सुल्तानों के विरूद्ध वे षड़यंत्र, विद्रोह एवं युद्ध करते रहे, किन्तु अब वे मुगल साम्राज्य के पोषक बन गये। अकबर ने उन्हें मुगल प्रशासन में ऊँचे पद, बड़ी जागीरें और दरबार में सम्मान दिया। वे अब मुगल साम्राज्य के प्रबल समर्थक बन गये और इसके विस्तार एवं मुगल साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अपना सहयोग दिया।

सन्दर्भ–

1. अबुल फजल, आईन–ए–अकबरी, भाग–1, अनु0 सरकार एवं जैरेट, पृ0– 173–292
2. अबुल फजल, आईन–ए–अकबरी, भाग–2, पृ0–131
3. ईश्वरी प्रसाद मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ0–82–86
4. मोरलैण्ड डब्लू0 एच0, इण्डिया ऐट द डेथ ऑक अकबर, पृ0–82–86
5. विलियम कुक, द ट्राइब्स एण्ड कास्ट ऑफ नार्थ–वेस्टर्न प्राविन्स ऑफ इण्डिया, भाग–1, पृ0 36, 96, 102
6. विलियम कुक, इस्लाम इन इण्डिया, भाग–1, पृ0 35, 56, 186
7. अबुल फजल, आईन–ए–अकबरी, भाग–3, पृ0 302
8. श्रीवास्तव ए0एल0, अकबर दि ग्रेट, भाग–2, पृ0 62
9. डेलायट जोम्स, दि एम्पायर ऑफ दि ग्रेट मुगल, पृ0 80

●●●●

*एम0ए0 पी–एच0डी0
मध्यकालीन इतिहास

शोध-19

प्राचीन भारत में ग्राम्य जीवन

गीता यादव*

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के लगभग 70 प्रतिशत लोग गाँवों में ही निवास करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में ग्रामीण जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए यहाँ के मनीषियों और अध्येताओं ने प्रत्येक युग में सराहनीय प्रयत्न किये। समय एवं काल के प्रभाव में सामाजिक जीवन शैली एवं दैनन्दिन जीवन के विवरण प्रस्तुति में वैचारिक अन्तर दिखाई पड़ते हैं।

प्राचीन भारतीय ग्राम्य जीवन का अध्ययन किया जाय तो सबसे पहले आदिम युग या पूर्व–पाषाण काल का युग आता है, जिसमें मानव अनिकेतन एवं पशुवारी अवस्था में था। वे यायावर एवं एकल जीवन व्यतीत करते थे, उनका जीवन पूर्णतया प्रकृति–जीवी था। वे कृषि कर्म से अपरिचित थे। उनका प्रमुख उद्योग आखेट था। परन्तु उत्तर–पाषाण काल में मानव के विकास एवं व्यवहार में अनेक परिवर्तित स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस परिवर्तित स्थिति में अनुकूल परिस्थितियों का जन्म हुआ, जिससे मानव की जनसंख्या में वृद्धि हुई। उसके बुद्धि में पहले की अपेक्षा अधिक विकास हुआ जिससे मानव जीवन और जटिल होने लगा। वह अब कृषि–कर्म, पशुपालन, गृह–निर्माण, वस्त्र–निर्माण आदि का प्रयोग करने लगा। इन सब कार्यों को करने के लिए मानव एक–दूसरे के निकट आने लगे। स्पष्टतः अब उनका जीवन एकांकी न रहा। अब वह झुण्डों में रहने लगे। यहीं से समाज का अंकुरण हुआ तथा मानव का जीवन सामूहिक हो गया। इस प्रकार इसी काल से 'ग्राम' का आविर्भाव हुआ।[1]

मानव की इसी तीव्रगामी अवस्थाओं में एक काल का और उदय होता है, वह ताम्र पाषाण काल जो उत्तर पाषाण काल से थोड़ा बहुत परिवर्तित परिवेशों को स्पष्ट करता है। इसी सन्दर्भ में इस युग में भी ग्रामीण जीवन–स्तर का उल्लेख मिलता है जैसे– अनेक धातु उपकरण, कृषिकर्म, गृहनिर्माण, शवधान वर्गीकरण आदि। कुछ ताम्र–पाषाण कालीन संस्कृतियाँ ग्रामीण पृष्ठभूमि पर होने का अनुमान लगाया गया है जिसके जीवन यापन के साक्ष्य एण, कायथा और इमामगाँव से प्राप्त हुई है।[2] इसी युग के लगभग कुछ जातियों एवं उपजातियों का उदय होता है, जिसमें कुछ जातियाँ झुण्डों में रहती थीं तो कुछ एकल जीवन व्यतीत करती थीं। ये जातियाँ हैं, नीग्रेटों प्रास्ट्रेलायड, नार्डिक, मंगोलायड एवं द्रविड़ आदि। प्रोस्टो–आस्ट्रेलायड जाति की सभ्यता ग्राम–प्रधान एवं कृषि प्रधान थी। सर्वप्रथम कृषि की उत्पत्ति इन्हीं लोगों ने की थी। ये पशुपालन एवं वस्त्र निर्माण से परिचित थे। ये लोग झुण्डों में रहा करते थे।[3]

इस तरह धीरे–धीरे इन सभी कालों में ग्रामों का क्रमिक विकास हुआ लेकिन सिन्धु घाटी के सभ्यता के समय ग्रामों का उल्लेख कम मिलता है क्योंकि यह नगरीय सभ्यता थी। बहुत से ऐसे उदाहरण हैं जो नगरीय जीवन शैली से अवगत कराते हैं। प्रमुख नगर मोहनजोदडों, हड़प्पा, चन्हदड़ों आदि थे, जो योजनाबद्ध ढंग से निर्मित किये गये थे। फिर भी इस समय कृषि होती थी। साथ ही साथ पशुपालन भी किया जाता था। खुदाई में गेहूँ तथा जौ के अवशेष मिले हैं।[4] डी0डी0 कौशाम्बी के अनुसार "सैंधव सभ्यता में कृषि कर्म के लिए लोग हल के प्रयोग से परिचित नहीं थे, वे जुताई के लिए कांटेदार पांचा या हेंगा (अं0 हैरों) का प्रयोग करते थे।[5] सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् रफीक मुगल ने ग्रामीण किसान समुदायों और चारागाहों की शुरूआत 7000 से 5000 ईसा पहले होने का अनुमान लगाया है। इस तरह कालान्तर में गाँवों का थोड़ा–बहुत विकास घटता–बढ़ता रहा, लेकिन पूर्व वैदिक काल में व्यवस्थित एवं योजनाबद्ध तरीकों से ग्रामों का विकास हुआ, जिसके कारण प्रायः वैदिक कालीन सभ्यता का सम्बोधन ग्रामीण सभ्यता के रूप में किया जाता है।

वैदिक वाङ्मय में लोक–परलोक का जितना विस्तृत विवेचन किया गया है, उतना सम्भवतः विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता है। मानव को सच्चा मानव बनाने में वैदिक साहित्य ने एक अद्भुत कार्य किया है। साहित्य समाज का सही प्रतिबिम्ब और इतिहास होता है और उसके द्वारा ही सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक कालीन समाज मुख्यतः ग्रामीण समाज था। ग्राम ही तत्कालीन समाज की सबसे छोटी राजनीतिक एवं सामाजिक इकाई थी। आर्यों के आगमन से ही वन्य प्रदेशों में ग्रामों का विकास तथा ग्रामीण जीवन का उत्कर्ष हुआ, उन्होंने ही वन्य प्रदेशों को काट–छाँट कर वहाँ ग्रामों का निर्माण किया। इस तरह बहुसंख्यक ग्रामों का निर्माण हुआ। आर्य कई जनों में विभक्त थे जिनमें पाँच जन मुख्य थे, जैसे– अनु, पुरू, यदु, तुर्वशु एवं द्रहा।[6] इन्हें पंचजन्य भी कहा गया। व्यवहारिक रूप में ग्राम स्वशासी एवं आत्म निर्भर थे जिनके प्रशासन तथा हितों के वहन का दायित्व 'ग्रामणी' नामक पदाधिकारी का होता था। ग्राम कई 'कुलों' (परिवारों) के समूहन से बनता था और कुल का संरक्षक 'कुलपा' कहलाता था।[7]

ऋग्वैदिक काल में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो ग्रामीण जीवन शैली को दर्शाते हैं। ऋग्वेद में एक हारे हुये जुआरी का उल्लेख है। वह जुए में अपना गृह भी हार गया। ऋग्वेद में 100 पुरा वाली दीवार का भी उल्लेख मिलता है जो बाह्य आक्रमणों से गाँवों की रक्षा करता था।

ऋग्वेद में एक स्थान पर 'आपाला अपने पिता के खेतों की समृद्धि एवं उपज के लिए प्रार्थना की थी। ऋग्वेद में क्षत्रपति और उर्वरापति शब्द भी खेतों के व्यक्तिगत स्वामियों के लिए प्रयोग हुआ है।[8] ग्रामों के चारो ओर चारागाह होते थे। 'गव्य' और 'गव्यति' शब्द चारागाह के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद में 'कृष' शब्द का प्रयोग 24 बार हुआ है। अनेक स्थानों पर 'यव' एवं 'धान्य' शब्द का उल्लेख मिलता है। खेती भी हल, बैल की सहायता से होती थी। ऋग्वेद में आया है कि अश्विन् देवताओं ने मनु को हल चलाना और 'यव' का खेती करना सिखाया था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक युग भारतीय इतिहास में ग्रामीण युग था। उत्तर वैदिक काल में भी ऋग्वैदिक कालीन स्थितियाँ बहुत कुछ बनी हुई थीं। आर्यों का जीवन ग्रामों में ही संगठित था तथा कृषि ही उनका मुख्य उद्यम था परन्तु कृषि सम्बन्धी शब्दों तथा अन्य मानवीय व्यवस्थाओं का थोड़ा परिवर्तित रूप कुछ राज्यों के माध्यम से दृष्टिगत होता है, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर वैदिक में क्षेत्रगत साम्राज्यों का उदय के साथ–साथ कृषि में कर्षण (खेत जोतने के लिए), वमन (बोने के लिए), कर्तन (काटने के लिए), मर्दन (माड़ने के लिए) आदि प्रक्रियाएँ शुरू हो चुकी थी।

आगे हम यह देखते हैं कि इसी समय ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों का उदय हुआ और उनके कर्मकाण्डीय एवं धार्मिक विचारों के प्रादुर्भाव से ग्रामीण जीवन प्रभावित हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि जनसंख्या की और साधनों के वृद्धि के परिणाम स्वरूप छोटे ग्राम बड़े ग्रामों में और बड़े ग्राम नगरों में विकसित हुए। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'ग्राम' शब्द का उल्लेख किया गया है जिसकी उत्पत्ति ग्रस (निगलना, खाना) और 'गम' जाना धातुओं से हुई है।[9] अथर्ववेद में आया है कि पृथवैन्य ने हल एवं कृषि को जन्म दिया।[10] अथर्ववेद में ही एक स्थान पर ग्राम की कुछ भूमि पर हिस्सा दिलाने के निमित्त राजा के लिए प्रार्थना का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में कृषि के निमित्त बैल, गाय आदि प्रयोग करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में ही ग्रामों के स्थापना का उल्लेख किया गया है।[11] काठक संहिता में 24 बैलों द्वारा हल खींचे जाने का उल्लेख है।

पाणिनि काल में भी ग्राम शब्दों का उल्लेख किया गया है। जो ग्रामों की संख्या में समकालीन कालों का ही उल्लेख किया गया है। अष्टाध्यायी के अन्तर्गत वर्षाकाल में पशु गोपाल के संरक्षण में चरने के लिए भेजे जाते थे। अन्य कालों की तरह पाणिनि काल में भी कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था। पाणिनि ने तीन फसलों का उल्लेख किया है, जैसे – वासन्तक (बसन्त में बोई जाने वाली), ग्रैष्मक (ग्रीष्म में बोई जाने वाली), आश्वयुजक (आश्विन में बोई जाने वाली) आदि।[12]

धर्मसूत्रों के काल में भी ग्रामीण जीवन अच्छा था। उस समय ग्राम के प्रमुख को ग्रामणी कहा जाता था। उसके ऊपर दशी, विशी, शतेश और सहस्रेश ग्रामों के अधिकारी थे। सांख्यायन गृह्यसूत्र में बैलों द्वारा खेती करने, हल चलाने व मन्त्रों के साथ समस्त कृषि सम्बन्धी कार्य करने का उल्लेख मिलता है। धर्मसूत्रों में ग्राम्य जीवन को अच्छा समझा गया है, तथा नगरीय जीवन की भर्त्सना की गई है। महाकाव्य काल में 'वार्ता' शब्द का उल्लेख हुआ है इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय भी गाँव काफी विकसित थे। आवश्यकतानुसार राजा हल चलाते थे। कहा जाता है कि हल चलाते समय राजा जनक को सीता प्राप्त हई थी एवं वैष्णव यज्ञ के सम्बन्ध में दुर्योधन भी हल चलाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[13] महाकाव्यों और पुराणों में 'भूमिदान' को पुण्य कार्य बताया गया है। महाभारत में कई प्रकार के बस्तियों का उल्लेख है जैसे – घोष, ब्रज, दुर्ग, ग्राम, खर्वट अथवा आदन आदि।

ईसा पूर्व छठीं शताब्दी का युग जन–जागरण का युग था। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक चिन्तन प्रक्रिया और राजनैतिक स्थिति से क्षुब्ध होकर ही गौतम बुद्ध की वाणी का तत्कालीन समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और धार्मिक क्रान्ति से भारतीय समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुये। बौद्ध धर्म राजवंशों एवं नगरों में बड़ी तीव्रगति से फैला। वैसे मगध साम्राज्य में वैदिक साहित्य और धर्म का बहुत बड़ा प्रभाव था। सामान्य जनता और विशेषकर ग्राम्य जीवन पर बौद्ध धर्म का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उस युग में भारत में ग्रामों का ही बाहुल्य था। कृषि ही जीवन का मुख्य माध्यम थी और ग्रामवासी ही अपने कठोर श्रम से समाज की जीवन रक्षा के लिए अधिक से अधिक अन्न उत्पादन करने का प्रयास करते थे। कृषि से ही व्यापार करके ग्रामीण जनता ने अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ की और नगरों के विकास में बहुत योगदान दिया। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध कालीन भारत में गाँवों की संख्या अधिक थी। मगध के राजा बिम्बिसार के शासन काल में 80 हजार गाँव थे। ग्राम ही मानव जीवन रक्षा एवं क्षुधापूर्ति के मुख्य साधन थे।[14] अपने कर्तव्यों के परिपालन को ही ग्रामीण जनता सबसे बड़ा धर्म मानती थी और वैसे वैदिक धार्मिक मान्यताओं का उनको अधिक विश्वास था, क्योंकि वह मान्यता एक ग्रामीण थी।

मौर्य काल भी कृषि प्रधान युग था। मेगस्थनीज के अनुसार दूसरी जाति कृषकों की है जो संख्या में अधिक हैं। इसी काल में गाँवों को बसाने के लिए विशेष उपक्रम का उल्लेख हुआ है। कौटिल्य ने ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित अनेक शब्दों का उल्लेख किया है जैसे – कृष्ट (जुती हुई), अकृष्ट (बिना जुती हुई), स्थल (ऊँची) आदि।[15] कौटिल्य ने गाँवों के बसाने के योजना में उन पुराने स्थानों को भी प्राथमिकता देता था, जहाँ पहले बस्तियाँ बसी हुई थीं। जिसमें राजाओं की बहुलता का उल्लेख किया गया है। कालान्तर में ग्राम्य जीवन में कुछ परिवर्तन के संकेत मिलते हैं। शुंग, सातवाहन एवं कुषाण तथा अन्य राजवंशों के कालों में एक विशेष ग्रामीण जीवन की अपेक्षा एक सामान्य ग्रामीण जीवन मिलता है क्योंकि अनेक राजवंशों के मतभेदों ने ग्रामीण जन–जीवन को प्रभावित किया। आगे चलकर

गुप्तकाल में समृद्धिशाली एवं विशेष रूप से ग्रामीण जीवन का विकास हुआ। इस काल में कृषि का विशेष महत्व था, वस्तुतः गुप्तकालीन ग्रामीण जीवन पूर्णरूप से विकसित अवस्था में पहुँच गया था। गुप्त साम्राज्य में ग्राम समूह की छोटी इकाइयों को 'पेठ' कहा जाता था। जिसका उल्लेख संक्षोभ के खोह अभिलेख में मिलता है, जहाँ ओपनी नामक ग्राम को मणिनाग पेठ के अन्तर्गत बताया गया है।[16] जूनागढ़ अभिलेख से यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त के गवर्नर पुष्य वैश्य ने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था, जो सिंचाई के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त किया गया है।[17] इस तरह से प्राचीन भारत में घटते एवं बढ़ते क्रमों में सब मिलाकर ग्रामीण जन–जीवन विकसित एवं समृद्धिशाली अवस्थाओं में ही था लेकिन सातवीं शताब्दी से उत्पन्न राजनैतिक अस्थिरता एवं विदेशी शोषण के कारण भारतीय ग्रामीण जीवन में विघटन की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होने लगी। राजनैतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से ग्रामीण जीवन क्रमशः उपेक्षित बनता गया।

वस्तुतः मानवीय प्रवृत्ति समूहों में रहने के लिए तत्पर होती है जिससे सहयोग की भावना का विकास होता है। समूह में रहने एवं सहयोग की भावना ग्राम्य सभ्यता को जन्म देती है जिसका एक रूप प्राचीन भारतीय ग्राम्य जीवन के उद्भव एवं विकास में समाहित है।

सन्दर्भ–

1. विमल चन्द्र पाण्डेय, 'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास', पृ0 44–45
– जी0एस0पी0 मिश्र, 'प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था', पृ0 88–89
– 'द वर्थ ऑफ इण्डियन सिविलाइजेशन', पृ0 256–257
2. श्रीमाली एवं झा, 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ0 104–105
3. 'द वैदिक एज', पृ0 148–49
4. विमल चन्द्र पाण्डेय, 'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास', पृ0 94–95
5. डी0डी0 कौशाम्बी, 'द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एंशियन्ट इण्डिया– इन हिस्टोरिकल आउट लाइन', पृ0 621
6. जयशंकर मिश्र, 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', पृ0 29–30
7. जी0ए0पी0 मिश्र, 'प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था', पृ0 46–47
8. ऋग्वेद 10,62.11, 10.34.10–11, 8.91.5–6
9. अथर्ववेद, 4.36.7, 6.40.2, वाज0सं0 3.45, छान्दोग्य उपनिषद 8.6.2
10. अथर्ववेद 2.8.5
11. ऐतरेय ब्राह्मण 3.44
12. अष्टाध्यायी 3.2.26, 3.2.26
13. रामायण, अयोध्याकाण्ड, 100.48 ; महाभारत 3.255.28
14. विमल चन्द्र पाण्डेय, 'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास', पृ0 322
15. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 2.40.24.2, 6.96.1, 3.65.9.30
16. श्रीमाली एवं झा, 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ0 292–293
17. एपिग्राफिया इण्डिका, 8 पृ0 42, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, 8, पृ0 257
फ्लीट जान् फेथफुल, 'कार्पस् इनक्रिप्शन्स् इण्डिकेरम्', भाग–3, पृ0 56

●●●●

*शोध छात्रा, इतिहास विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

गुप्तकालीन भू-राजस्व

विजय सिंह*

गुप्तकालीन इतिहास के स्रोतों से तत्कालीन आर्थिक जीवन पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। गुप्त काल में भूमि से प्राप्त होने वाली आय राजस्व का प्रमुख स्रोत थी। गुप्त काल के विधि–वेत्ता यह भली भाँति जानते थे कि प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए कि वह सरलता से दे सके और उसके पास भावी उत्पादन के लिए पर्याप्त धन बचा रहे। कामन्दक ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए एक माली और ग्वाले की उपमा दी है। जैसे माली फूल के पौधों में पानी देता है फिर फूल तोड़ता है, जिस प्रकार ग्वाला गायों की सेवा करता है, फिर उनका दूध निकालता है उसी प्रकार राजा को प्रजा की रक्षा और सहायता करनी चाहिए और फिर उसे कर वसूल करना चाहिए।[1] कालिदास ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। वह कहता है कि राजा प्रजा की भलाई के लिए ही प्रजा से कर वसूल करता है।[2]

गुप्त काल के अभिलेखों में राजस्व के लिए सबसे अधिक 'भाग', 'भोग' और 'कर' इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाग–भोग को एक मानकर फ्लीट ने उसका अर्थ 'भाग' अथवा 'अंश' का उपभोग स्वीकार किया है।[3] वे इसका तात्पर्य कर का उपभोग मानते हैं।[4] डी0 सी0 सरकार के अनुसार 'भाग' का अर्थ उत्पादन में राजा का हिस्सा था। 'भोग' का अर्थ वे फल, फूल, दूध, ईंधन आदि में जो प्रजा समय–समय पर राजा को देती थी।[5] मेघातिथि और कुल्लूक ने भी 'भोग' का यही अर्थ दिया है।[6] स्मृतियों में 'भाग' का उल्लेख भू–कर के रुप में ही हुआ है।[7] परमेश्वरी लाल गुप्त ने 'भाग' को भू–कर मानते हुए उसे 'भोग' से अलग माना है। उनके अनुसार 'भाग' निःसंदेह भू–कर अथवा भू–उत्पादन से प्राप्त राज्यांश को कहा जाता था।[8] जबकि 'भाग' की तरह 'भोग' को भी नियमित मानते हुए इनका कहना है कि सम्भवतः यह इसी प्रकार का 'कर' का नया रुप था जिसे मौर्य युग में 'सित' कहा जाता था।[9] इस प्रकार स्पष्ट रुप से नहीं कहा जा सकता है कि 'भाग' तथा 'भोग' कौन से कर थे। भट्टस्वामी ने स्पष्ट किया है कि उपज के छठे भाग में वे सब दरे अर्थात् 1/3 या 1/4 आदि आ जाती है, जो भू–राजस्व के रुप में राजा देश के विभिन्न भागों में किसानों से लेता था।

'भाग' और 'भोग' के अतिरिक्त 'कर' नामक कर के विषय में इसी प्रकार का मतभेद है। मनुस्मृति के टीकाकारों ने 'कर' के भिन्न अर्थ दिये हैं। ये विभिन्न अर्थ निम्नलिखित हैं–

1. मेघातिथि : वस्तुओं की भेंट।
2. सर्वज्ञनारायणः भूमि पर नकद कर।
3. रामचन्द्रः घास, ईंधन आदि के रुप में दिया गया कर।
4. कुल्लूक : गाँव और नगर के निवासियों से भाद्रपद या पौष में लिया जाने वाला कर।
5. रघुनन्दनः ग्रामवासियों से प्रतिमास लिया जाने वाला कर।

उपर्युक्त अर्थों से यह स्पष्ट है कि निश्चित समय पर लिया जाने वाला टैक्स कर कहलाता है। गुप्तकालीन साहित्यों तथा अभिलेखों में 'कर' सभी करों के लिए सामान्य रुप से प्रयुक्त किया गया था। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से यह स्पष्ट है कि 'कर' एक विशेष प्रकार का टैक्स था जिसको वसूल करना रुद्रदामन प्रजा के लिए कष्टकर समझता था। समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति में इसे 'सामान्य करों' की श्रेणी में रखा है।[10] अनुदान लेखों में 'सर्वकर परिहारे'[11] या 'सर्व करसमेत'[12] शब्दावली प्रयुक्त हुई है। उसमें कर का अर्थ स्पष्ट रुप से सभी टैक्स है।

डी0 सी0 सरकार के अनुसार अनाज के हिस्से के अतिरिक्त जो टैक्स किसानों को देना पड़ता था उसे 'कर' कहते थे।[13] मनु के अनुसार 'कर' भाग के अतिरिक्त टैक्स था।[14] इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर दो अर्थों में प्रयुक्त होता था। भू–राजस्व के अतिरिक्त किसी विशिष्ट कर के अर्थ में जो समय–समय पर ग्रामवासियों से लिया जाने वाला टैक्स था और दूसरा सभी कर सामूहिक रुप से। 'भाग भोग कर' गुप्तकालीन लेखों में संयुक्त रुप से प्राप्त होता है जिसके सम्बंध में विद्वानों के एकमत न होने के बाद भी भूमि से प्राप्त होने वाले विशिष्ट कर के रुप में स्वीकार किया गया है।[15] गुप्त काल में 'बलि' नामक एक अन्य कर का उल्लेख मिलता है। जातकों में 'बलि' का अर्थ ऐसे टैक्स में लगाया गया है जिसे देने में प्रजा को बहुत कष्ट होता था।[16] मिलिन्दपन्ह में 'बलि' को आपातकालीन कर कहा है।[17] अशोक के सम्मिनदेई स्तम्भ लेख में भी बलि का उल्लेख है, जो उपज के भाग से अलग कर था जिसे उसने लुम्बिनी वन में पूर्णतया छोड़ दिया। सम्भवतः इस समय बलि किसी प्रकार का धार्मिक कर था।

बलि का अर्थ 'धार्मिक कर' गुप्तकालीन अभिलेखों में इसका प्रयोग मिलता है। इसका उल्लेख 'चरु' और 'सत्र' के साथ किया गया है। बलि में भी अनाज, चावल, फल, फूल आदि देवताओं को अर्पित किये जाते थे। इसका अर्थ राजा को दिये जाने वाला धार्मिक कर कहा जा सकता है। वासुदेव उपाध्याय ने इसे धार्मिक कार्यों से सम्बंधित कर के रुप में स्वीकार किया है।[18] मैती ने भी 'चरु' तथा 'सत्र' आदि करों के साथ उल्लिखित होने के कारण इसे धार्मिक शुल्क के रुप में मान्यता दी है।[19] विष्णु ने राजा को बलि के लिए धान्य के छठे अंश को ग्रहण करने का निर्देश दिया है।[20] अश्वघोश[21] ने भी 'बलि' को नियमित कर के रुप में उल्लिखित किया है। गुप्तकालीन रचना अमरकोश में बलि को सामान्य करों के रुप में शुल्क एवं कर का पर्यायवाची माना गया है।[22] इन तथ्यों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि गुप्त अभिलेखों में जिस बलि का उल्लेख धार्मिक कर के रुप में किया गया है सम्भवतः वह भूमि से प्राप्त किया जाने वाला कोई अप्रत्यक्ष कर था।

इस काल के अभिलेखों में राजस्व के अन्य स्रोतों के रुप में 'उपरिकर' और 'उद्रंग' का भी वर्णन मिलता है। यू0

एन0 घोषाल[23] के अनुसार 'उद्रंग' स्थायी किसानों से और 'उपरिकर' अस्थायी किसानों से वसूल किया जाता था। ब्युह्लर ने 'उद्रगं' को राज्य के लिए प्राप्त किये जाने वाले भू–उत्पादन के अंश के रुप में स्वीकार किया है।[24] दिनेश चन्द्र सरकार ने 'उपरिकर' का अर्थ अतिरिक्त टैक्स किया है।[25] एस0 के0 मैती भी सरकार के इस मत से सहमत है[26] परन्तु मैती के अनुसार 'उद्रंग' पुलिस टैक्स भी हो सकता है जो स्थानीय पुलिस के खर्च के लिए प्रजा से लिया जाता था।[27] राजतरंगिणी में 'द्रंग'[28] पुलिस चौकी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर मैती ने 'उद्रंग' का अर्थ पुलिस टैक्स माना है। परमे वरी लाल गुप्त 'उद्रंग' को 'भाग' का ही रुप स्वीकार करते हुए इसे भू–उत्पादन द्वारा राज्य को प्राप्त होने वाले अंश के रुप में स्वीकार किया है।[29] इस प्रकार राज्य 'भाग–भोग कर', 'उद्रंग' एवं 'उपरिकर' के रुप में विभिन्न कर प्राप्त करता था जिनमें कुछ परम्परागत भू–राजस्व का रुप था तथा कुछ विशिष्ट रुप से लगाये गये कर के रुप में प्राप्त किया जाता था।

मैत्रक भासक धरसेन द्वितीय के मलिया अनुदान लेख में 'सधोन्यभोग भाग हिरण्यदेवः' का उल्लेख है जिसका अर्थ है अनाज में राज्य का हिस्सा।[30] मैती ने इसे निश्चित फसलों पर राज्य द्वारा वसूल किये जाने वाले कर के रुप में स्वीकार किया है।[31]

इस काल से पूर्व की स्मृतियों और गुप्तकालीन कई अभिलेखों में 'हिरण्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है। विष्णु के अनुसार राजा को वस्तु के मूल्य का 1/50 भाग हिरण्य के रुप में लेना चाहिए। वाकाटक अभिलेखों में अनुदान ग्राहियों को हिरण्य से मुक्त किया गया है। इसका यह अर्थ है कि गुप्तकाल में हिरण्य सरकार की आय के प्रमुख साधनों में से एक था।[32] सरकार ने भी इसे कुछ फसलों का वह राजभाग माना है जो द्रव्य के रुप में अदा किया जाता था।[33] इसी प्रकार का मत प्रकट करते हुए यू0 एन0 घोषाल ने 'हिरण्य' को करों के उस समूह से सम्बंधित माना है जो कृषि और उद्योग के उत्पादित वस्तुओं पर लगता था।[34]

समुद्रगुप्त के नालन्दा ताम्रलेख में 'मेय' नामक कर का उल्लेख आया है।[35] वी0 आर0 आर0 दीक्षितकार के अनुसार यह कर भारी जुर्माने के रुप में लिया जाता होगा जो गाय तथा बछड़ों की हत्या किये जाने पर वसूल किया जाता था। गुप्तकालीन साक्ष्यों में 'तुल्यमेय' के स्थान पर केवल 'मेय' का उल्लेख है। 'भाग भोग कर' के साथ इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह सामान्य भूमि कर का एक वैकल्पिक रुप था अथवा किसी अन्य प्रकार का कर था। अभिलेखों और ब्राण के वर्णन से ज्ञात होता है कि 'चाट व भाट' वे पुलिस अधिकारी थे जो चौकीदारी करने, राजस्व एकत्र करने और चोर डाकुओं को पकड़ने के लिए नियुक्त किये जाते थे। मैती ने इसे बलपूर्वक आरोपित किये गये कर के रुप में स्वीकार किया है।[36] सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि राज्य द्वारा बलपूर्वक वसूल किये जाने वाले कर का ही एक प्रतिरुप था। यद्यपि इसे कानूनी रुप से स्वीकार नहीं किया गया परन्तु इस प्रकार का कर शासक परम्परानुसार प्राप्त करता था।

सन्दर्भ–

1. कामन्दक, 5/84, पृ0 29।
2. रघुवंश, 1, 18।
3. जे0 एफ0 फ्लीट, कार्पस इन्सक्रिप्शन्स इंडिकेरम, भाग 3, पृ0 120।
4. वही, पृ0 254।
5. डी0 सी0 सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स, भाग 1, पृ0 372, पादटिप्पणी संख्या 7।
6. मनुस्मृति, 8/207 (मेघातिथि और कुल्लूक भट्ट की टीका)।
7. वही, 7/130।
8. परमेश्वरी लाल गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ0 401।
9. वही, पृ0 402।
10. वासुदेव उपाध्याय गुप्त अभिलेख, प्रयाग प्र ास्ति, पृ0 123, पंक्ति 22।
11. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग 24, संख्या 9, पृ0 14।
12. वही, भाग 23, संख्या 18, पृ0 10।
13. डी0 सी0 सरकार, पूर्वोद्धृत, भाग 1, पृ0 372, पाद टिप्पणी संख्या 7।
14. मनुस्मृति, 8/306।
15. श्रीराम गोयल, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ0 402।
16. जातक, 1/199, 339, 3/9, 5/98, 2/240।
17. मिलिन्दपन्ह, 11।
18. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वोद्धृत, पृ0 345।
19. एस0 के0 मैती, इकोनामिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया इन दि गुप्ता पीरियड (300–500 ए0 डी0), पृ0 84।
20. प्रजा योश्वल्यर्भ सम्भवत् सरेण धान्यतः भाषामादघात्– विष्णुस्मृति, पृ0 445–446।
21. अमरकोश, 2/8/28।
22. यू0 एन0 घोशाल, हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, पृ0 210।
23. सौन्दरानन्द, द्वितीय सर्ग, भलोक 33।
24. इण्डियन एंटीक्वेरी, भाग 12, पृ0 189।
25. डी0 सी0 सरकार, पूर्वोद्धृत, भाग 1, पृ0 266 पाद टिप्पणी संख्या 5।
26. एस0 के0 मैती, पूर्वोद्धृत, पृ0 85।
27. वही।
28. राजतरंगिणी, भाग 2, पृ0 291–292।
29. परमेश्वरी लाल गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ0 403।
30. जे0 एफ0 फ्लीट, पूर्वोद्धृत, पृ0 196, घरसेन द्वितीय का मलिया ताम्र लेख।
31. एस0 के0 मैती, पूर्वोद्धृत, पृ0 86।
32. समुद्रगुप्त का जाली गया अभिलेख, जे0 एफ0 फ्लीट, पूर्वोद्धृत, पृ0 25; भार्वनाथ का लोह लेख वही, पृ0 131; घरसेन द्वितीय का मालिय लेख, वही, पृ0 166।
33. डी0 सी0 सरकार, पूर्वोद्धृत, पृ0 372, पादटिप्पणी संख्या 7।
34. यू0 एन0 घोशाल, पूर्वोद्धृत, पृ0 61–62।
36. डी0 सी0 सरकार, पूर्वोद्धृत, पृ0 264।

●●●●

*शोध छात्र, इतिहास विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सांख्य दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

वेदनिधि*

सांख्य दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

मुच् धातु से करण में घञ् प्रत्यय लगने पर मोक्ष शब्द की सिद्धि होती है। अमरकोश में मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस् अमृत, मोक्ष, तथा अपवर्ग शब्दों को पर्यायवाची माना गया है।[1]

सांख्यदर्शन में आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति को मोक्ष माना गया है।[2] सांख्यदर्शन में मोक्ष के पर्यायवाची के रूप में "अपवर्ग"[3] और "कैवल्य"[4] शब्दों का प्रयोग हुआ है। योगदर्शन में भी मोक्ष के लिए कैवल्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[5]

सांख्यदर्शन दो तत्त्वों को स्वीकार करता है– (1) प्रकृति (2) पुरूष। पुरूष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, जो देश–कालादि के बन्धनों से रहित है। वह निर्गुण और निष्क्रिय है, केवल द्रष्टा है। गुणों तथा क्रिया (अथवा प्रवृत्ति) का सम्बन्ध प्रकृति से है। सुख दुःखादि धर्म अन्तः करण के हैं आत्मा के नहीं हैं। पुरूष तो स्वभाव से ही बन्धन रहित एवं मुक्त है। परन्तु अनादि अविद्या के कारण पुरूष या आत्मा उनके साथ अपना तादात्म्य या अभेद ग्रहण करने के कारण उस संसरण अर्थात् जन्म–मरण को एवं उससे होने वाले दुःख को अपना समझता है।[6] यही उसका बन्धन है। प्रकृति से अपने को विविक्त या भिन्न न समझने के कारण पुरूष सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श इत्यादि प्रकृति परिणामों को "ये मेरे हैं"– ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। परन्तु जब वह (पुरूष) प्रकृति और प्राकृत तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर यह जान जाता है कि ये मुझसे अन्य हैं, तो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष की अवस्था मानी गई है।[7] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात यह कि बन्धन की अवस्था में भी पुरूष और प्रकृति का वास्तविक संबंध नहीं होता है।

सांख्यकारिका के द्वितीय कारिका में कहा गया है कि व्यक्त, अव्यक्त एवं (पुरूष) के इन तीनों का विवेक अर्थात् भेदपूर्वक ज्ञान से दुःखों की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तथा अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है।

विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि पुरूष की मुक्तावस्था कोई वस्तु की प्राप्ति नहीं है। यह तो विघ्नों या व्यवधानों का नाश हो जाने के पश्चात् पुरूष की अपने स्वरूप में अवस्थिति है। जैसे स्वभाविक रूप से श्वेत स्फटिकमणि में "जया कुसुम के संयोग से लालिमा आ जाती है और उस कुसुम के हटा दिए जाने पर स्फटिक की श्वेतता पुनः आविर्भूत हो जाती है तथा कुसुम के संयोग से उत्पन्न यह लालिमा स्फटिक के श्वेत रूप की आच्छादित अन्तराय मात्र होती है, उससे स्फटिक का श्वेतरूप नष्ट नहीं होता, वैसे ही स्वभाव से दुःखरहित पुरूष में बुद्धि–उपाधिक दुःख का प्रतिबिम्ब, पुरूष के स्वभाव का आवरक रूप विघ्नमात्र होता है। पुरूष में यह दुःख बुद्धि की उपाधि से उत्पन्न नहीं होता और न ही उसके नष्ट होने से नष्ट होता है। अतः आत्मा (पुरूष) नित्यमुक्त है, और उसके बन्ध एवं मोक्ष व्यवहारिक होते है।[9]

प्रकृति ही पुरूष के भोग एवं अपवर्ग दोनों प्रयोगों को सम्पन्न करती है।[10] और उसकी यह प्रवृत्ति पुरूष की विवेकख्याति पर्यन्त चलती रहती है। विवकेख्याति हो जाने पर प्रकृति के महदादि परिणामों की भी निवृत्ति हो जाती है और कृतार्थ हो जाने पर ये सभी तत्त्व अपने कारण में लीन हो जाते हैं। विवेकख्याति को स्पष्ट करते हुए व्यास कहते हैं कि बुद्धिसत्वरूप प्रकृति तथा पुरूष का जो भेद ज्ञान है वह विवेक ख्याति कहलाती है।[11]

यहाँ शंका उठती है कि प्रकृति पुरूष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकती क्योंकि प्रकृति अचेतन है। जिस प्रकार अचेतन घटादि की किसी उद्देश्य को लेकर प्रवृत्ति नहीं देखी जाती उसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि फिर भी कहीं प्रवृत्ति देखी जाती है तो वह अचेतन की न होकर चेतन की होगी। अतः पुरूष के मोक्ष के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति युक्तिसंगत नहीं है।

इस शंका के उत्तर में कारिकाकार ने कहा–

वत्स विवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरूषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।। सा0का0, 57

जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध स्वतः निकलता है वैसे ही मोक्ष के लिए अचेतन प्रकृति भी स्वतः प्रवृत्त होती है। युक्तिदीपिका में यह शंका उठाई गई कि धर्माधर्म रूपी अदृष्ट के कारण दूध की प्रवृत्ति होती है न कि बछड़े के वृद्धि के लिए ?इसका समाधान करते हुए कहा गया कि अदृष्ट भी अचेतन होने से यह भी में भी दोष आएगा। अतः अचेतन प्रकृति पुरूष के मोक्षरूप प्रयोजन के लिए प्रवृत्त हो जाएगा।

डा0 चन्द्रधर शर्मा एवं डा0 आद्य प्रसाद मिश्र ने दुग्ध और बछड़े के कारिकाकार के उदाहरण को असंगत बताया है। चन्द्रधर शर्मा लिखते हैं "गाय और बछड़ा दोनों चेतन प्राणी हैं और गाय के थनों मे दूध मातृस्नेह के कारण उतरता है।"[12] इसी प्रकार डा0 मिश्र जी का कहना है कि दुग्ध की प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती। उसकी प्रवृत्ति के पीछे चेतन गाय की प्रबल इच्छा रहती है कि उसका बछड़े को प्राप्त होकर उसकी पुष्ट और वृद्धि करे। वे आगे लिखते हैं कि ग्वालों के दुग्ध निकालते समय गायों का प्रायः दुग्ध खींच लेना और बछड़ों के छोड़े जाने पर छोड़ना भी इसी बात का समर्थक है कि अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती।[13]

उपर्युक्त दोनों विद्वानों का मत उचित ही जान पड़ता है क्योंकि अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति को सिद्ध करने के लिए दुग्ध की प्रवृत्ति का यह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं लगता है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सांख्य के पूरे दर्शन के दृष्टिकोण से ये उदाहरण निश्चित ही संगत है। पुरूष के मोक्ष के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति में एक और हेतु प्रतिपादित करते हुए कारिकाकार कहता है कि जिस प्रकार संसार में व्यक्ति उत्सुकता की निवृत्ति के लिए क्रियाओं में प्रवृत्त होता है उसी प्रकार प्रकृत्ति भी पुरूष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।[14]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि बन्धन एवं मोक्ष किसका होता है प्रकृति का या पुरूष का? सांख्य में पुरूष को गुणातीत एवं निर्विकारी माना गया है। पुरूष विशुद्ध चैतन्यस्वरूप होने से वस्तुतः नित्य मुक्त है। वह परिणामातीत तथा बन्धनमोक्ष रहित है। वह बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण बन्धन में पड़ता है। जब पुरूष को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है तब वह मुक्त हो जाता है। जो वस्तुतः वह सदा ही है। वस्तुतः बन्धन एवं मोक्ष पुरूष में आरोपित धर्म है। उपचारतः उसे बद्ध एवं मुक्त कहा जाता है।[15]

सांख्यसूत्रकार और उनके भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है।

आचार्य वाचस्पति का मत है कि बन्धन, संसरण और मोक्ष पुरूष में केवल आरोपित होते हैं। जैसे जय और पराजय नौकर की होने पर भी उसका आरोप स्वामी में किया जाता है, क्योंकि स्वामी के आश्रय में ही भृत्य जय–पराजय के कार्यों में संलग्न होते हैं और उनके लाभ, शोकादि फल स्वामी को भी प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति से अपना भेद न समझने के कारण उसमें स्थित भोग और मोक्ष से पुरूष का भी सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है।[16]

इसके अलावा कारिकाकार के निम्न कारिका से भी यही बात और पुष्ट होती है–

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरूषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेणा।।

अर्थात् बुद्धि के आठ भावों[17]– धर्म–अधर्म ज्ञान–अज्ञान, वैराग्य–राग ऐश्वर्य–अनैवर्श्य में से ज्ञान को छोड़कर सात भावों के द्वारा प्रकृति स्वयं ही पुरूष के साथ अपने को बांधती है और प्रकृति ही पुरूषार्थ की सिद्धि के लिए एक रूप (ज्ञान) के द्वारा स्वयं को मुक्त करती है। इस प्रकार कारिकाकार ने स्पष्ट किया कि प्रकृति के बन्धन के ये हेतु भी प्रकृति के ही हैं। यह बन्धन वास्तव में पुरूष का नहीं अपितु सूक्ष्म शरीर के रूप में प्रकृति का ही होता है।[18] सूक्ष्म शरीर में बुद्धि की प्रधानता होती है तथा उसमें स्थित धर्म–अधर्म आदि भावों के कारण वह किसी पशु अथवा मनुष्य का शरीर धारण करता है। प्रकृति के नियम के कारण उस शरीर में होने वाले बुढ़ापा, मृत्यु, रोगादि को उनसे होने वाले दुःख को सूक्ष्म शरीर में स्थित (सम्पृक्त) पुरूष अपने मानता है, जबकि वास्तव में वे उसके नहीं ही होतें हैं। उपर्युक्त दुःखादि विवेकज्ञान प्राप्ति तथा सूक्ष्म शरीर की निवृत्ति तक बना रहते हैं। क्योंकि विवेकज्ञान से पुरूष एवं प्रकृति का भेद ज्ञात होने पर शरीरपात के अन्तर सूक्ष्मशरीर अपने कारण्रूप मूल प्रकृति में विलीन हो जाता है तथा पुरूष अपने वास्तविक को जान लेता है, यही मोक्ष है, कैवल्य है।

इस प्रकार अनादिकाल से होने वाले पुरूष के ऊपर आरोपित अपने बन्धन का ज्ञान पुरूष को कराकर प्रकृति स्वयं को संकुचित कर लेती है जो वस्तुतः प्रकृति की मुक्ति होती है, पुरूष की नहीं, किन्तु औपचारिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध पुरूष के साथ स्थापित किया जाता है।

सन्दर्भ–

1. अमरकोश, पं0 हरिगोविन्द शास्त्री, पृ0 50
2. अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरूषार्थः। सांख्य सूत्र, 1/1
3. ज्ञानेन चापवर्गो। सांख्यकारिका, 44
4. ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति। सांख्यकारिका, 68
5. सहपुरूषयोः बद्धि साम्ये कैवल्यमिति, योगसूत्र, 3/55
6. तत्र जरामरणकृतं दुखं प्राप्नोति चेतनः पुरूषः। लिंगास्याऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।। सांख्यकारिका, 55
7. तदा द्रष्टः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र, 1/3
8. व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। सांख्यकारिका, 2
9. यथाहि स्वभाव शुक्लस्य स्फटिकस्य रक्तत्वं.....तथैव स्वभाव निर्दुःख स्यात्मनों बुद्धयुपाधिकं दुःखप्रतिबिम्बं तदावरकरूपं विघ्नमात्रम्.....व्यवहारिकावित्यविरोध इति। सांख्यप्रवचनभाष्य, 6/20
10. (क) इत्येष प्रकृतिकृतः प्रवर्तते तत्त्वभूतभावाख्यः। प्रतिपुरूष विमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थ आरम्भः।। सांख्यकारिका, 56 (ख) भोगावर्गलक्षणः पुरूषार्थः। सांख्यतत्वकौमुदी, कारिका, 31
11. सत्त्वपुरूषान्यताप्रत्ययों विवेकख्याति, व्यासभाष्य, योगसूत्र 2/26
12. अदृष्टप्रेरणत्वादसिद्धिरिति चेद् अथ मतम् – धर्माधर्मप्रेरितं क्षीरं प्रवर्तते न वत्सविवद्धयर्थं मिति – तदप्ययुक्तम्। कस्मात् ?दोषसाम्यात्। युक्तिदीपिका, कारिका 57
13. भारतीय दर्शन– चन्द्र शर्मा, पृ0 156
14. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ0 231
15. भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा, पृ0 154
16. औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः। पुरूषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्।। सांख्यकारिका, 58
17. भारतीय दर्शन – चन्द्र शर्मा, पृ0 154
18. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः सांख्यकारिका, 62

●●●●

21/38, शक्तिनगर,
दिल्ली–110007

शोध-22

उत्तर प्रदेश का आर्थिक विकास और महिलायें

अमलेश कुमार शुक्ल*

कुछ ही दशकों में हमने विशाल दार्शनिक दूरियाँ तय कर ली हैं। भारतीय महिला आंदोलन की शुरूआती अवस्था में जोर 'पीड़ितों के रूप में महिला' पर रहा। तब नारीवादियों ने परिवार और समाज के व्यवस्था क्रम में स्त्री को अधीन बनाए रखने के लिए की जाने वाली शारीरिक और मानसिक हिंसा के विविध तरीकों को अपने आंदोलन का केन्द्र बनाया। हिंसा के बारे में चुप्पी तोड़कर नारीवादियों ने स्त्रियों के बाकायदा उत्पीड़न को चुनौती दी।

अत्याचार न सहने की ठान चुकी तथा अपने इर्द–गिर्द की जंजीरों से मुक्त कुछ मध्यम–वर्गीय भारतीय शहरी महिलाओं ने अपनी क्षमताएं और ताकतें खोजनी शुरू कर दी हैं और सार्वजनिक तथा निजी संसार में उनका इस्तेमाल भी करने लगी हैं। मुक्ति और निजी शक्ति का यह उद्‌भव ही सशक्तिकरण का सार है। दिखने में चाहे सशक्तिकरण की बात कितनी भी आकर्षक क्यों न लगे, एक कड़वी सच्चाई यह है कि अधिकांश स्त्रियों के लिए अपनी क्षमता और प्रतिभा के विकास की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियां अनुकूल नहीं हैं।

महिला आंदोलन के प्रारंभिक दौर में मीडिया लगातार स्त्रियों के खिलाफ समाज के विविध अपराधों के प्रति ध्यान आकर्षित करता रहा। 1980 के दशक में इस प्रकार के अपराधों की खबरें रोजमर्रा की बात बन गई। बलात्कार, दहेज हत्याएं, सती आदि के बारे में सनसनीखेज खबरें दैनिक समाचार – पत्रों के स्थानीय पृष्ठों और यहां तक कि प्रथम पृष्ठ की सुर्खियां बनने लगीं। बलात्कार तो औसत हिंदी मिल्क की मुख्य विषय वस्तु बन गया। पीड़ित स्त्री पहले तो अकल्पनीय कष्ट सहती हैं और अन्त में बदला लेने के लिए चंडी का रूप धारण कर लेती है, ऐसी कथा वस्तु तो लोकप्रिय सिनेमा का एक मुख्य विषय बन गई।

1990 के दशक में इस आंदोलन में आम नेता भी आगे बढ़े। नारीवाद हाशिए से निकलकर सामयिक भारतीय चिंतन की प्रमुख धारा बन गया। संघर्ष गलियों से निकल कर सभागारों में पहुंच गया। मीडिया ने कुछ चोटी के बुद्धिजीवी कार्यकर्ताओं को जगप्रसिद्ध बना दिया। स्वयंसेवी गतिविधियाँ अब पूर्णकालिक बन गईं, जिन्हें निजी श्रोतों या अनुसंधान अनुदान का सहारा मिलने लगा।

समाज व सरकार के खिलाफ संघर्ष में एकजुटता की बजाए तत्कालीन नारीवादी आंदोलन का स्वरूप बिगड़कर सरकारी विभागों और दाता एजेंसियों द्वारा अनुदान पाने की ललक में एक होड़ की लड़ाई बन गया।

उपलब्ध वृहद आंकड़ों से संकेत मिलता है कि अधिसंख्य भारतीय स्त्रियों की स्थिति में 1970 के दशक की तुलना में शायद ही कोई सुधार हुआ। सार्वजनिक जीवन और मीडिया रिपोर्टों में स्त्रियों की समानता की चर्चा तो बड़े जोर–शोर से होती रही, लेकिन ये इतने गहरे नहीं पैठ सकीं कि सामाजिक सोच में कोई क्रांतिकारी बदलाव ला पातीं।

वस्तुतः स्त्री समानता का विचार 1975 के महिला आन्दोलन से नहीं उभरा, बल्कि भारतीय राजनीतिक चिंतन और कर्म में पहले ही मौजूद तथा भारत के स्वाधीनता संग्राम के दौरान स्त्री–पुरूष समानता के विचार जोर पकड़ चुके थे तथा कई स्त्रियों ने महसूस किया था कि वे पर्याप्त रूप से सशक्त हैं और घर के बंधनों को तोड़कर राजनीतिक जीवन में प्रवेश कर सकती हैं। फिर भी स्वतंत्रता बाद अधिसंख्य स्त्रियां अपने सहज दायरे यानी अपने–अपने घरों में सिमट गईं। कुछ समाज सेवा के कार्य में सक्रिय बनी रहीं। बहुत ही कम स्त्रियों ने राजनीतिक जीवन में सक्रिय भूमिका निभाने का फैसला किया। इन विचारों की पैठ कितनी छिछली थी, इसका प्रमाण आजादी के कुछ समय बाद लाए गए हिंदू कोड के बारे में हुई तीखी प्रतिक्रिया और तगड़े विरोध में देखा जा सकता था।

स्वतन्त्रता के बाद सरकारों, महिला संगठनों, महिला आयोगों आदि के प्रयासों से महिलाओं के लिए विकास के द्वार खुले। स्वतंत्रता के बाद से संविधान के नारी समर्थन वाले अनेकों प्रावधानों को पोषित करते हुये बनाये गये अनेकों कानूनों तथा विभिन्न प्रकार के सरकारी प्रयासों के कारण आज भारत की महिलाओं की स्थिति में गुणात्मक सुधार हुआ है। उनमें शिक्षा का प्रसार बढ़ा जिससे उनमें जागृति आयी, आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ परिणाम स्वरूप वे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ी। आज वे राजनीति, समाज सुधार, शिक्षा, पत्रकारिता, साहित्य, विज्ञान, उद्योग, व्यवसायिक प्रबन्धन, शासन–प्रशासन, डॉक्टर, इन्जीनियर, पुलिस, सेना, कला, संगीत, आर्किटेक्चर, आध्यात्म, खेलकूद आदि क्षेत्रों में पुरुषों के साथ अपनी उपस्थिति बना रही हैं। इतना ही नहीं कारपोरेट सेक्टर में जहाँ दो दशक पहले तक पुरुषों का ही वर्चस्व था वहाँ आज महिलाएँ न केवल अपने उच्च प्रबन्धकीय क्षमता का प्रदर्शन कर रही हैं बल्कि नेतृत्व भी कर रही हैं। सशक्तिकरण की दिशा में भारतीय महिलाओं के कदम अब पुरुषों की वैशाखी का मोहताज नहीं।

एक ओर तो परिदृश्य उत्साहवर्द्धक है परन्तु दूसरी ओर दृष्टिपात करें तो दिखायी देगा कि आज भी लाखों करोड़ों महिलायें गरीबी शोषण और उत्पीड़न की शिकार हैं। उत्तर प्रदेश में लाखों परिवार घोर गरीबी में जी रहे हैं। गरीबी की सर्वाधिक मार इन परिवारों की महिलायें झेल रही हैं। आधा पेट भोजन, घर की आय बढ़ाने के लिए घर या घर के बाहर अथक श्रम, बार–बार गर्भधारण, गर्भावस्था में पौष्टिक भोजन का अभाव आदि कारणों से गरीब परिवारों की महिलायें जवानी में ही बूढ़ी नजर आने

लगती हैं।

घर परिवार के बाहर काम करने वाली महिलाओं को शोषण बराबर जारी हैं। वे पुरूषों के समान काम करती हैं लेकिन उन्हें पुरुषों के बराबर मजदूरी नहीं दी जाती। घर–परिवार के भीतर महिला उत्पीड़न का एक प्रमुख कारण दहेज लोलुपता है। घर आई बहू को नौकरानी समझने की मनोवृत्ति बहू द्वारा लड़के के बजाय लड़की को जन्म दिया जाना, उसका गर्भधारण करने योग्य न होना, अशिक्षा या असुन्दरता आदि महिला उत्पीड़न के अन्य अंग हैं।

उत्तर प्रदेश की महिलाओं की अति अभावग्रस्तता का एक प्रमाण राज्य की जनसंख्या में स्त्री–पुरुष अनुपात से मिलता हैं। 1991 में उत्तर प्रदेश में प्रति एक हजार पुरुष में 879 महिलायें थी जबकि 2001 में प्रति एक हजार पुरुषों पर केवल 898 महिलायें हैं। अति न्यून स्त्री–अनुपात के भूकम्प का केन्द्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश रहा है। यहाँ स्त्री पुरुष अनुपात केवल 0.84 पाया गया।

उत्तर प्रदेश में निम्न स्त्री पुरुष अनुपात का मुख्य कारण जन्म से लेकर 30–40 की आयु तक नारी को सहने पड़ रहे निरन्तर अभाव ही है। चार वर्ष तक के वय वर्ग में उत्तर प्रदेश की बालिका मृत्युदर बालकों की अपेक्षा 16 प्रतिशत अधिक है। अप्रैल 2001 में महिला एवं बाल कल्याण विभाग उत्तर प्रदेश शासन द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट के अनुसार प्रदेश में बाल मृत्यु दर और बच्चों को जन्म देने के समय महिलाओं की मौत दर में लगातार वृद्धि हुई है।

उत्तर प्रदेश में औसतन प्रत्येक महिला दक्षिण भारतीय महिलाओं से दुगुने बच्चों को जन्म देती हैं। उत्तर प्रदेश में प्रत्येक 24 मिनट में एक माँ बच्चे को जन्म देते ही मर जाती है। हर तीसरी लड़की 15 वर्ष पूरा करते विवाह के बन्धनों में बँध कर जोखिम पूर्ण ढंग से गर्भवती हो जाती है। और 75 प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ किसी न किसी प्रकार के कुपोषण से गर्भ के जोखिम की शिकार हो जाती है। उत्तर प्रदेश में आधी किशोरावस्था की लड़कियाँ कुपोषित हैं, 30 प्रतिशत से अधिक महिलायें कुपोषित हैं, 75 प्रतिशत महिलायें किसी न किसी प्रकार के कुपोषण और उचित सेवा के अभाव से ग्रसित हैं। हर छठी मौत लिंग भेद से होती है। शैशव एवं बाल्यकाल में ही स्त्री के विरूद्ध भेदभाव उच्च जनन दर प्रसूता मृत्युदर आदि मिलकर ऐसी परिस्थितियों की रचना कर देती हैं कि उत्तर प्रदेश में नारी की जन्म के समय जीवन आशा पुरुषों से 2.2 वर्ष कम रह जाती है।

स्त्री पुरुष विषमता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष उत्तर प्रदेश में नारी की वृहत्तर भूमिका का दमन इसके दुष्प्रभाव केवल नारी जीवन पर नहीं पड़ती वरन् इसके कारण सारे समाज की आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक विकास कुंठित होकर रह जाता है।

उत्तर प्रदेश में नारी के कहीं आने जाने पर बहुत सख्त सामाजिक प्रतिबन्ध उसकी वृहत्तर भूमिका को घर की चहारदीवारी तक सीमित कर देते हैं। उत्तर प्रदेश की विवाहिताओं में से आधी भी नियमित रूप से किसी संचार माध्यम से सम्पर्क नहीं रख पा रही हैं।

उत्तर प्रदेश में नारी की संकुचित वृहत्तर भूमिका का एक आयाम श्रमशक्ति में सीमित भागीदारी भी है। 1991 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश की केवल 8 प्रतिशत नारियाँ मुख्य श्रमिक मानी गई है। सारे देश में 16 प्रतिशत और दक्षिण भारत में 24 प्रतिशत महिलाएँ इस वर्ग में सम्मिलित हैं। उत्तर प्रदेश की अधिकांश महिलाओं की सारी योग्यताओं को केवल घर के कामों में बाँध देने के कारण उनकी प्रतिभा और योग्यता का बहुत भीषण दमन हो रहा है।

एक अनुमान के अनुसार उत्तर प्रदेश में हर वर्ग की स्त्रियों को घरेलू हिंसा का शिकार होना पड़ता है। औसतन प्रति तीन महिलाओं में से एक महिला को अपने अंतरंग सम्बन्धों से हिंसा का सामना करना पड़ता है जैसे पत्नी को पीटना, बालिका भ्रूण हत्या और दहेज मृत्यु जिसके जिम्मेदार न केवल पति अपितु महिलाओं सहित परिवार के अन्य सदस्य भी होते हैं। एक सर्वेक्षण में 50 प्रतिशत महिलाओं द्वारा वैवाहिक जीवन में किसी न किसी प्रकार की हिंसा की बात स्वीकार की गयी। वीमेन्स संस्था की ओर से आयोजित एक कन्वेशन में डाक्टरों ने बताया कि देश भर के मनोरोग वार्जे में भर्ती 60 प्रतिशत महिला पागल नहीं बल्कि घरेलू हिंसा का शिकार हैं।

उत्तर प्रदेश कृषि प्रधान राज्य है और यहाँ की अधिकांश जनसंख्या गाँवों मे रहती है व कृषी कार्य में लगी हुई है। क्या कभी किसी ने सोचा कि गाँवों में अधिकांश काम कौन करता है? ग्रामीण महिलायें दिन–रात काम में खटती रहती हैं। घर परिवार के अलावा खेतों और पशुओं का काम भी उन्हें ही करना पड़ता है लेकिन अफसोस की ग्रामीण महिलाओं को कामकाजी माना ही नहीं जाता। आज भारत दूध का दुनियाँ में सबसे बड़ा उत्पादक है। यह दूध पैदा कैसे होता है?ग्रामीण महिलायें ही पशुओं को पालने, उनकी देखरेख करने और दूध दुहने का काम करती हैं लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था में उनके योगदान कोई मानता ही नहीं। सच तो यह है कि कभी किसी ने सोचा तक नहीं कि महिलाओं का भी अर्थव्यवस्था में कोई योगदान है। नगरीय महिलाओं की अपेक्षा ग्रामीण महिलायें अधिक कार्यशील हैं। वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में 80 फीसदी महिलाएं बुनियादी तौर पर कृषि पशुपालन आदि कार्यो से जुड़ी हैं। जबकि शहरी क्षेत्रों में अधिकांश महिलाएं घरेलू उद्योगों कारोबार सेवायें भवन निर्माण जैसे असंगठित क्षेत्रों में काम कर रही हैं और अधिकांश महिलाएँ अकुशल श्रमिकों की श्रेणी में आती हैं।

भारत सरकार द्वारा वर्ष 2007 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया गया था इसी उपलक्ष्य में देश में पहली बार महिला सशक्तिकरण नीति की घोषणा की गयी। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार महिला प्रतिष्ठानों तथा विभिन्न कार्यालयों को महिलाओं की सुरक्षा एवं संरक्षा के लिए समय–समय पर निर्देश जारी किए जाते हैं।

उत्तर प्रदेश में महिलाओं के विकास व